काव्य, कला और शास्त्र

लेखक—
डा० रांगेय राघव

विनोद पुस्तक मन्दिर
हास्पिटल-रोड, आगरा।

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक में मेरे काव्य, कला और शास्त्र संबंधी कुछ निबन्ध हैं, जिनमें मैंने अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। आशा है विद्वान् इसे सहानुभूति से अपना कर मुझे अपने गहन अध्ययन की सहायता से समुचित मार्ग बतायेंगे और साहित्य का कल्याण करेंगे। विषय बहुत गहन है। और इस विषय पर नये विचारों के दृष्टिकोण से संभवतः लोग लिखते नहीं, अतः मुझसे भूल हो जाना सहज ही है।

—रांगेय राघव

: १ :

विश्व की समस्त सभ्य भाषाओं में काव्य प्राप्त होता है। जो लिखना नहीं जानतीं, ऐसी जातियों में भी, काव्य लोक गीतों के रूप में प्राप्त हो जाता है। हमारे वेद का आरम्भिक रूप भी लेखन पद्धति से सुरक्षित नहीं रखा गया था। एक से सुनकर दूसरा याद कर लिया करता था। यही कारण है कि वेदों को श्रुति कहते हैं। धीरे धीरे ही विकास क्रम में इस प्रकार सुनकर याद की जाने वाली रचनाओं का लिखना प्रारम्भ किया गया और कालांतर में उन्हें काव्य की संज्ञा दी गई। प्रारम्भ से संभवतः काव्य का तात्पर्य उस ज्ञान से था, जिसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। काव्य में पहले देवता विषयक स्तुति ही अधिक प्राप्त हुई है। वेद में कवि का अर्थ विद्वान है। वेद तो खैर बहुत ही पुरानी बात है, परंतु बाद में भी कवि का रूप आज के युग जैसा नहीं था जिसमें शिक्षा के विभिन्न रूपों में से वह कुछ को ही जान पाता है। अरस्तू के समय तक कवि प्रायः सब ही चीजों के विषय में कुछ न कुछ जानता था क्योंकि सभी चीजों के ज्ञान का तत्कालीन क्षेत्र आज की भांति विस्तार से विकसित नहीं हुआ था। इसीलिये आज काव्य का अर्थ पुराने काव्य के अर्थ से इस रूप में भी भिन्न है कि कवि की जानकारी का रूप बदल गया है। पहला कवि दार्शनिक भी होता था, आज का कवि दर्शन के नये रूपों की पूरी झलक भी नहीं दे पाता।

काव्य का रूप कवि की मनस्थिति के अनुरूप बदल जाया करता है। कवि की मनस्थिति उसके सामाजिक और राजनैतिक जीवन से निर्धारित हुआ करती है। इस प्रकार काव्य का रूप भी कवि के जीवन की भाँति धीरे धीरे परिवर्त्तित होता रहता है।

किन्तु जिस प्रकार बदलते हुए सामाजिक जीवन में भी कवि के जीवन में पीढ़ी दर पीढ़ी एक वस्तु ऐसी मिलती है जो उसमें सब युगों में अवान्तर रूप से गतिमती होते हुए भी, प्रायः स्वरूप भेद में स्थिर सी लगती है, उसी प्रकार

काव्य में भी उसकी प्रतिच्छाया प्राप्त होती है। वह गत्यात्मकता, वाह्य और अंतस्थ होते हुए भी मनुष्य के उस 'भावपक्ष' से संसर्ग रखती है, जिसका विकास निरन्तर होते रहने पर भी इतना धीमा होता है कि वह जान नहीं पड़ता। काव्य इस 'भाव' से ही संबन्ध रखता है।

ज्ञान का विकास होना मनुष्य के विकास का चिह्न है। ज्ञान सदा से बढ़ता आ रहा है, और निरन्तर ही बढ़ता जायेगा, कम से कम तब तक तो बढ़ता ही जायेगा, जब तक यह पृथ्वी नष्ट नहीं हो जायेगी, या जब तक मनुष्य जाति बनी रहेगी।

काव्य भी एक प्रकार का ज्ञान है। इसीलिये भारतीय आचार्यों ने काव्य को विद्या कहा है। जयशङ्कर 'प्रसाद' ने भी काव्य को 'विद्या' ही स्वीकार किया है। भारतीय विचारकों ने अपने युगों की मीमांसा करके तत्कालीन ज्ञान को इस रूप में प्रस्तुत किया था कि विद्याएँ १४ हैं और कलाएँ ६४।

आज निस्संदेह कला के तो रूप बढ़ गये हैं। परन्तु यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि विद्या की संख्या भी बढ़ गई है।

साधारणतया, हम विद्या और कला का भेद इस प्रकार कर सकते है :

विद्या वह ज्ञान है जो समाजगत व्यक्ति अपने आप सीखता है और वह सिखाये से नहीं सीखी जा सकती। काव्य ऐसी ही विद्या है और क्योंकि समस्त विद्याओं में काव्य ही ऐसी विद्या है जिसमें केवल व्यक्तित्व ही उसका आश्रय है, इसलिये वह सबसे ऊँची विद्या मानी गई है। संगीत को भी विद्या कहते हैं। परन्तु संगीत का स्वर ही प्राकृतिक देन है, अन्यथा अभ्यास से संगीत भी सीखा जा सकता है। काव्य एक ऐसी विद्या है जो किसी भी प्रकार सिखाये से नहीं सीखी जा सकती। उर्दू कविता के क्षेत्र में हमें ऐसे उस्तादों का विवरण मिलता है, जिनके चारों ओर शायरी सीखने को शिष्य वर्ग एकत्रित होता था। परंतु वे उस्ताद काव्य के वाह्यरूप—छन्द आदि को ही ठीक किया करते थे, अभिव्यक्ति के रूप को ही मांजा करते थे। भाव को दूसरे में वे बलात् जाग्रत नहीं करते थे। उसके लिये व्यक्ति में ही प्रतिभा होनी आवश्यक थी। कवि की प्रतिभा व्यक्ति की वस्तु होती है।

यह सत्य है कि प्रतिभा आकाशीय तत्त्व नहीं है। किंवदंती चलती है कि जो कवि बनता है, वह जन्म से ही अपने साथ कविता की प्रतिभा लेकर आता है। किंतु यह एक भावुक निष्कर्ष है, और कुछ नहीं।

प्रतिभा क्या है? विद्वानों ने इस पर विभिन्न दृष्टि से विचार किया है और वे एकमत नहीं हो सके हैं। हम प्रतिभा का अर्थ केवल इतना ही मानते हैं कि किसी अमुक व्यक्ति में अमुक गुणग्राह्यता की शक्ति अधिक होती है। यह अधिकत्व व्यक्ति ज्ञात या सहज रूप से अपने आप ही सामाजिक जीवन में विचारों, भावनाओं और क्रिया कौशल के देखने दिखाने के, आदान प्रदान के समय अपने भीतर पैदा कर लेता है। वह जिस समाज में रहता है, उसमें उस पर प्रभाव पड़ते हैं। यदि उसकी बुद्धि उसे ग्रहण करती है तो वह उसे सीखता है। अब सीखने के समय जो चेतना का गुणात्मक परिवर्त्तन, व्यक्ति और समाज के उस द्वन्द्व से पैदा होता है जो कि निरन्तर विकास की ओर प्रेरित करता है, वही व्यक्ति की प्रतिभा का मूल स्वरूप है।

काव्य उसी प्रतिभा पर आश्रित रहता है। कवि वही बनता है जिसमें भावभूमि ऐसी व्यापक होती है कि पहले तो वह शब्द भण्डार का स्वामी बन जाता है। उसके बाद उस शब्द भण्डार के आधार से वह अपने दिमाग में ऐसी कल्पनाएँ करता है, जो सहज ही दूसरे लोग नहीं कर पाते। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ कल्पना करता है। परंतु कवि की कल्पना ऐसी होती है कि वह अपने आप में बहुत सुस्पष्ट तो होती है, उसका दूसरा अनिवार्य गुण होता है कि वह दूसरों के लिये भी सहज ग्राह्य होती। अर्थात् जो तुलसी दास सोचते हैं, वही उनके पाठक भी सोचने लगते हैं। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि भावभूमि की व्यापकता सब कवियों में एक सी नहीं होती। कुछ तो केवल तुकबंदी में समाप्त हो जाते हैं कुछ इससे आगे बढ़कर भावपत्त को जगाते हैं। केवल धुरन्धर कवि ही हृदय को हिला देने की शक्ति रखता है। वैसा कवि बहुत ही बिरला होता है। वह कभी कभी किसी शताब्दी में जन्म लेता है और इसीलिये कि उसका प्रायः अभाव मिलता है और उसका प्रभाव बड़ा गहरा पड़ता है, लोग उसके लिये कहते हैं कि वह तो ईश्वर का भेजा हुआ आता है। ईश्वर का भेजा हुआ तो एक कहावत है।

क्या हमारे देश में विभिन्न दार्शनिकों को यही सम्मान नहीं मिला है? यहाँ दार्शनिकों के विचारों, और उनके मतभेदों पर ही उनके मूल्यांकन की समाप्ति नहीं की गई है। उनकी प्रतिभा, उनकी अपने विषय में निष्ठा, उनकी जनता को प्रभावित करने की सामर्थ्य, उनका व्यक्तिगत चरित्र, उनका समाज से सम्बन्ध और उसकी पवित्रता, आदि इतनी और ऐसी ही अनेक बातें हैं जिनको भी सदैव स्मरण रखा गया है और लघुसापेक्ष्य के ऊपर मनुष्य की प्रतिष्ठा को स्वीकार किया गया है। यह हमारी संस्कृति का एक जीवंत स्वरूप है, जिसने निरंतर ही मनुष्य को यह अधिकार दिया है कि वह अपने और अपनी जाति के विकास के लिये नैरन्तर्य्य और धैर्य्य से जुटा रह सके। इसी भाव को एक लोक प्रचलित रूप में—ईश्वर का भेजा हुआ कहा जाता है। यहाँ ईश्वर से उस सत्ता अथवा भाव का प्रतीक ग्रहण किया जाता है, जो एक पीढ़ी नहीं, वरन् मनुष्य के विशाल इतिहास का पर्य्यवेक्षण करता है। उस समस्त चिंतन में मनुष्य के कल्याण की कामना ही मूल रूप से निहित है। यही कल्याण की भावना कवि पर भी लागू हो जाती है और प्रतिभा के उसी स्वरूप की प्रशस्ति, भारतीय चिंतन में, स्वीकार की गई है, जो कि लोककल्याण के लिये अग्रसर होती है। व्यक्ति का पूर्ण महत्त्व स्वीकार करते हुए भी, भारतीय चिंतन ने उसी व्यक्ति को अधिक ऊँचा माना है, जो अपने जीवन को समाज के लिये ही अर्पित कर देता है। इसका प्रचलित रूप यही है कि भारतीयों ने ब्रह्म साक्षात्कार करने वाले ऋषि मुनियों की नहीं, क्षत्रिय राजाओं की उपासना की है, उन क्षत्रियों की जिन्होंने अपने जीवन को तत्कालीन समाज के कल्याण के लिये लगा दिया। बड़े बड़े योगी इस देश में हुए हैं, परन्तु कर्मयोगी कृष्ण को इसीलिये बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है।

प्रतिभा की समस्या स्पष्ट हुई। हमने देखा कि प्रतिभा पूर्ण रूप से व्यक्तिपरक होते हुए भी अन्ततोगत्वा अपने आरम्भ से अन्त तक समाजगत है और वह वास्तव में एक वृक्ष से तुलनीय है।

मस्तिष्क एक बाग़ है। उसमें माली अर्थात् समाज तरह-तरह से पानी देता है, खाद देता है और उसे उपजाऊ बनाने की चेष्टा करता है। पर हर धरती की एक अपनी विशेषता होती है। कोई धरती अधिक उपजाऊ होती है

और शीघ्र ही उस पर विशाल वृक्ष खड़ा हो जाता है। वह वृक्ष अपनी जड़ें धरती में फैला देता है और अन्त तक धरती में से जल खींचता है, अर्थात् अपना भोजन प्राप्त करता है और बाहर छाया देता है। यहाँ यह प्रकट होता कि धरती की अपनी विशेषता होती है। धरती यहाँ जातिगत नहीं है, व्यक्तिगत है। इसमें भ्रम करने से बहुत गड़बड़ हो सकती है, क्योंकि मस्तिष्क की कोई जाति नहीं होती। मस्तिष्क नितान्त व्यक्तिपरक है। परन्तु वह तब तक अपना विकास नहीं कर सकता जब तक समाज से सम्बन्ध स्थापित नहीं करता। मूलतः तो समाज के आदान-प्रदान, सम्बन्ध और कार्य्य-कलाप ही उसमें विचार बोते हैं। मस्तिष्क समाज से ही शक्ति लेकर उसको बढ़ाता है और वही बीज एक दिन प्रतिभा का वृक्ष बन जाता है, जो समाज में छाया करता है, किन्तु तब भी मस्तिष्क अपना भोजन समाज से ही लेता है।

जब प्रतिभा अपनी व्यक्तिपरकता में इतनी डूब जाती है कि उसका समाज से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, तब उसका स्रोत सूख जाता है और उसका विस्तार भी रुक जाता है।

इस उदाहरण से समाज और व्यक्ति का वह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध प्रकट होता है, जिसमें एक दूसरे का अपना-अपना अस्तित्व भी बना रहता है। हमने पहले जो समाज और व्यक्ति के द्वन्द्व की बात कही है, वह भी स्पष्ट हो जाती है। यह द्वन्द्व ऐसा नहीं होता कि गतिरोध को जन्म दे, वरन वह आगे बढ़ाने वाला होता है। आगे का अर्थ यहाँ विकासशीलता से लेना ही उचित होगा।

काव्य इसी प्रतिभा का विकास है, या कहें प्रतिरूप है। भावना की भूमि बड़ी व्यापक होती है, वह एक को दूसरे के समीप लाती है। और जिस ढङ्ग से वह लाती है, वह अमूर्त्त होता है। उसका मूर्त्तस्वरूप नहीं दिखाई देता। कोई भी कवि ऐसा नहीं होता कि जो वह कल्पना करता है, उसे हूबहू ज्यों का त्यों ऐसा वर्णित करदे कि सब लोग उसे उतना ही अनुभव करें जितना उस समय वह करता है। कौनसा कवि इसमें कितनी सामर्थ्य रखता है, वही उसकी प्रतिभा का वाह्य-स्वरूप है, जिसके मापदण्ड से व्यक्ति की शक्ति का समाज से सम्बन्ध देखा जाता है। एक ही समय में अनेक कवि होते हैं। परन्तु सब ही कवि महान काव्य का सृजन नहीं करते।

काव्य तब ही महान होता है जब उसमें निम्नलिखित गुण समन्वित हो जाते हैं—

१—कविता के विषय हृदयपक्ष को छूने वाले होते हैं। जिसमें भी हृदय को स्पर्श करने की शक्ति है, अर्थात् भाव को जगाने की शक्ति है, वही काव्य का विषय हो सकता है। यदि इसे शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाये तो बात संचारी-भावों और अस्थायी भावों में आकर समाप्त हो जाती है। किन्तु भाव को जाग्रत करने के लिये वाह्य परिस्थितियों से सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है। माँ की ममता का वर्णन पुत्र के सम्बन्ध से ही प्राप्त होता है। प्रेम की दशा के वर्णन के लिये प्रेमी और प्रेमिका की आवश्यकता पड़ती है। और यह उपकरण अपने आप में पूर्ण नहीं होते, युग परक होते हैं। अतः यहाँ यह प्रमाणित होता है कि भावपक्ष तभी सफल होता है जब वह युगपरकता को ग्रहण करके ही उपस्थित होता है।

२—व्यक्ति अपने आप में पूर्ण नहीं होता, वह समाजगत होता है। समाज परिवर्तित होता है। भाव भी परिवर्तनशील होता है। अतः दूसरी बात प्रकट होती है कि परिवर्तनशीलता में वही स्थायी मूल्य लिये है जो कम से कम और धीरे से धीरे परिवर्तन प्राप्त करता है।

३—तीसरी बात यह है कि स्थायित्व का मोह यदि पुनरावृत्ति में समाप्त हो जाता है, तब वह नवीनता को तो छोड़ता ही है, विकास का मार्ग स्पष्ट नहीं करता, अतः नये समय में ग्राह्य नहीं होता।

४—इन सबसे स्पष्ट होता है कि जब प्रतिभा इस प्रकार अपने को व्यक्त करती है कि युग के स्थायी मूल्यों को ग्रहण करके वह भावपक्ष को जाग्रत करने में समर्थ हो जाती है, तभी वह महान काव्य प्रस्तुत करने में समर्थ होती है।

अभिव्यक्ति का रूप ही कला है। अभिव्यक्ति के रूप की समस्त सामग्री समाजगत है। मुख्य वाहन भाषा है। काव्य में छन्द परम्परा, पुरानी विरासत आदि वस्तुएँ सब ही समाज से प्राप्त होती हैं। नया कवि इनको परखता है और अपनी कला को अपनी प्रतिभा से नया रूप देकर ढालता है। अपने युग की महानता का व्यक्तीकरण उसकी इसी सामर्थ्य में निहित होता है, तभी

एक महाकवि की शैली, वर्णन आदि एक ही प्रकार का होता है, और दूसरे महाकवि का दूसरे प्रकार का।

कला का विकास प्रतिभा ही करती है। जहाँ प्रतिभा का अभाव होता है, वहाँ कला उतनी क्रियाशील नहीं रहती। वह तब अस्तित्व रूप में ही अवशिष्ट रहती है, और पिष्टपेषण से आगे का मार्ग नहीं निकल पाता। यह कला अभ्यास से सीखी जा सकती है। यदि गुरु अच्छा हो, और विद्यार्थी परिश्रम करने वाला हो तो वह इस कला को सीख सकता है। सीख लेने भर से कोई चमत्कार सम्भव नहीं हो सकता। छन्दों का रचना कोई बहुत कठिन काम नहीं है। बहुत से तुकबन्द प्रत्येक युग में रहते हैं और जीवन पर्य्यन्त इसी भ्रम में बने रहते हैं कि वे कवि हैं।

कला और काव्य का यह भेद स्पष्ट है। संगीत में जो मोहिनी है वह प्रतिभा से आती है, वैसे संगीत कला का रूप धारण करके जीवित रह सकता है। यही शिल्प और स्थापत्य में भी है, चित्र में भी है। मूर्त्ति, भवन और चित्र जब बोलने लगते हैं तब कला के भीतर की वह प्रतिभा अर्थात् आत्मा उतरती है जो जीवन का प्रतीक है, पुराने का पिष्टपेषण नहीं है, बल्कि युग और व्यक्ति का वह असीम तादात्म्य है जो आगे का रास्ता प्रकट करता है। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि सभी ललित कलाएं अपने निम्नस्तर में कला हैं और उच्चस्तर में विद्या। परन्तु अब इनकी पारस्परिक शक्ति का भी पर्य्यपेक्षण आवश्यक है।

इन सब में ही इतनी शक्ति होती है कि वे हृदय को भुला सकें। बहुत अच्छा भवन और शिल्प देखकर दर्शक की टकटकी बँधी रह जाती है। यही हाल चित्र का भी होता है। संगीत समझ में न आने पर भी सिर या पाँव चलने लगते हैं। भारतीय शास्त्रीय संगीत सुनकर अपने आप सिर हिलता है और यूरोपीय संगीत सुनकर पाँव हिलते हैं। एक प्रकार से अनजान व्यक्ति भी अपनी भावातिरेकता में उस लय ताल से अपना तादात्म्य प्रगट करता हुआ ताल देने लगता है। काव्य सुनकर भी आनन्द विभोर हो उठता है। काव्य का आनन्द वास्तव में उस भाव को पूर्णतः प्राप्त करना है, जिसे कवि पाठक या श्रोता में जगाना चाहता है। यह है इनकी भुला देने की शक्ति परन्तु

आचार्यों ने इस विषय पर मनन करके यह तथ्य निकाला है कि जिस ललित कला का जितना ही मूर्त्त रूप अधिक होगा वह उतनी ही निम्नश्रेणी की, और जिसका जितना ही अमूर्त रूप अधिक होगा वह उतनी ही उच्चश्रेणी की होगी। शिल्प, चित्र और स्थापत्य तो इस को स्वीकार कर लेते हैं, परंतु संगीत वाले इसे नहीं मानते। उनका कहना यह है कि काव्य में शब्दों की आवश्यकता पड़ती है। और शब्द उसे कहते हैं—जिस नाद के साथ अर्थ जुड़ा हो। अतः अर्थ जोड़ने की प्रक्रिया सामाजिक और सामूहिक उपादान होने के कारण अधिक मूर्त्त है। सङ्गीत में सार्थक ध्वनि की आवश्यकता नहीं, वह तो नाद से ही संबंध रखता है। नाद और स्वर ही मूल संगीत हैं। संगीत की सर्वोच्च अवस्था में केवल स्वर संधान ही माना गया है।

संगीतज्ञों का यह मत अपनी जगह ठीक है किन्तु एकांगी है। काव्य में नाद अपने समस्त तारतम्य से प्रगट होता है। नाद जब विचार बन जाता है, और अपने व्यापक रूप से साधारणीकृत हो जाता है, तब वह वास्तव में नाद से भी सूक्ष्म और अमूर्त्त हो जाता है। नाद की जिस भूमि में सङ्गीतज्ञ अपनत्व परत्व का एकत्व देखते हैं, वह व्यक्तिपरक ही होता है, जब कि शब्द की भूमि में काव्य अपनत्व परत्व का एकत्व तो करता ही है, वह व्यक्ति परकता में ही समाज परकता को भी धारण कर लेता है। संगीत तन्मयता लाता है, अपने आपको भुला देता है, परन्तु काव्य तन्मयता और विस्मरण तो लाता ही है, वह भावभूमि में व्यक्ति को, संपूर्ण समाज पक्ष को ग्रहण करके उदात्त भी बनाता है। इसीलिये काव्य का मर्म संगीत के मर्म की तुलना में सहज ही अवगत होता है।

काव्य और कला के इस द्वंद्व का प्रश्न जैसे जैसे जटिल होता गया, विद्वानों ने इस पर अधिक अनुसंधान किया। उन्होंने नियम बनाये और नियम बनाने के लिये उन्होंने सब कुछ का विश्लेषण किया। उस विश्लेषण का ही नाम शास्त्र है, जो एक आधार भूमि प्रस्तुत करता है। शास्त्र इन कलाओं की सूक्ष्म से सूक्ष्म गतियों को समझने और उन्हें व्यक्त करने की चेष्टा करता है। जैसे जैसे नयी-नयी भूमियों की खोज होती है, आगे का मार्ग निकालने में उनसे सहायता पहुँच जाती है। परन्तु शास्त्र खोज है, वह मूल

नहीं है। मूल कला ही है, जो अपने नये रूप धारण करने के लिये है। मूल कला ही है, जो अपने नये रूप धारण करने के लिये शास्त्र पर अवलम्बित नहीं है। शास्त्र ही उस मूल रूप का अनुसरण करने के लिये बाध्य है। शास्त्र से कला को सहायता मिलती है, रूप निर्मित नहीं होता। कला से शास्त्र का निर्माण होता है। शास्त्र बैसाखी है। कला चलने वाली है। शास्त्र की लम्बाई की कटान या बढ़ान कला की ऊँचाई नीचाई पर निर्भर है। यदि कला ऊँची है तो बैसाखी को ही बदलना पड़ता है। विद्वान यहाँ यह कह सकते हैं कि कला को लँगड़ा स्वीकार किया गया है जो कि अनुचित है। नहीं। यह ठीक है। कला अपने आप में लँगड़ी ही है, क्योंकि वह अन्ततोगत्वा वाह्य उपकरण है और अभिव्यक्ति का एक स्वरूप ही है। काव्य अथवा विद्या और विद्या के स्वरूप ही गति के मूल प्राण हैं। वे ही इतने समर्थ हैं कि अपने आप चलते है, उन्हें बैसाखियों की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसीलिये महा-कवियों की तो कला चेरी होती है, जब कि मध्यम कोटि के कवियों के लिये वह सहायक दिखाई देती है। निम्न कोटि के कवियों को तो शास्त्र का आधार लेकर ही जीवित रहना पड़ता है।

उपर्युक्त विवेचन इनके पारस्परिक भेद के मूल रूप को स्पष्ट करने के लिये इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है। व्यवहार में हम इनको अलग-अलग इतनी आसानी से नहीं रख सकते, उसी प्रकार कि जिस भाँति हम वस्त्र, देह और चेतना को भिन्न करके व्यक्ति को नहीं देखते। हमारे साहित्य के पात्र अपनी अनुकूल परिस्थिति से अपने को विच्छिन्न करके प्रस्तुत नहीं करते, वरन् वह समूह में से ऐसी वैयक्तिकता को जन्म देते हैं, जो व्यक्तिपरक होते हुए भी अपना अन्यों से अधिकाधिक तादात्म्य करती है और जितनी ही वह इस कार्य में सफल होती है, उतनी ही उसकी महत्ता भी स्वीकृत की जाती है।

पुराने युगों का दृष्टिकोण इस विषय में आज के दृष्टिकोण से एक आधार-स्वरूप भेद रखता है। आज का युग वस्तु को अलग करके नहीं देखता, सापेक्ष की अधिकाधिक स्वीकृति चाहता है, जब कि पुरानी परम्परा शास्त्रीय दृष्टिकोण में प्रत्येक 'व्यक्ति' की 'समानता' तो स्वीकर करती है, परंतु 'व्यक्ति' को 'युग' और 'समाज' से निरपेक्ष रखकर देखना चाहती है। उदाहरणार्थ राम की रावण पर

विजय है। राम ने रावण को हराकर संसार में 'सद्' की स्थापना की। उस 'सद्' की स्थापना में हमें आनन्द मिलता है। क्यों मिलता है? क्योंकि हम 'सद्' की विजय में अपनी विजय देखते हैं। अतः शास्त्री के अनुसार यह 'सद्' व्यक्तिपरक ही है और समान रूप से प्रत्येक युग में समान भाव जाग्रत कर के वही आनन्द देता रहेगा। यह पुराना दृष्टिकोण है। नया दृष्टिकोण जब यह मानता है कि व्यक्ति को जब 'सद्' की विजय में अपनी विजय दिखाई देती है तो पूछता है कि ऐसा क्यों होता है! इसका उत्तर है कि वह व्यक्ति भी 'सद्' की कामना करता है। किन्तु राम के युग का 'सद्' आज भी 'सद्' हो यह आवश्यक नहीं है। 'सद्' तो एक अमूर्त्त कल्पना है, जिसका तादात्म्य केवल 'समानता' के कारण होता है। यह समानता व्यक्ति परक ही नहीं, समाज परक होती है। इस तथ्य को अपनी युग सीमाओं में न समझ सकने के कारण ही पुराने आचार्य्यों ने अपने सामने यह धारणा बनाली थी कि 'सहृदय' ही काव्य को समझ कर आनन्द ले सकता है। सहृदय कौन नहीं है? जो योगी है, साधु है, असंस्कृत है, इत्यादि। अर्थात् जो समाज विशेष का प्राणी नहीं है, जिसके विचार एक विशेष धारा को नहीं मानते, या एक विशेष नमूने (Pattern) को नहीं स्वीकार करते, या एक विशेष सामाजिक प्रणाली को नहीं मानते, ऐसे व्यक्ति को सहृदय नहीं कहा जा सकता। इसीलिये संभवतः राम विजय में रावण को आनन्द नहीं आता, परन्तु शास्त्री कहते हैं कि बाल्मीकि के राम-विजय वर्णन में रावण को आनन्द आना आवश्यक है। नया दृष्टिकोण इसे स्वीकार नहीं करता, क्योंकि आनन्द की अनुभूति विषय के तादात्म्य से होती है, उसकी वाह्य अभिव्यक्ति साधन मात्र है, साध्य नहीं। विस्तार से देखने पर प्रगट होगा कि मनुष्य तो समान हैं परन्तु उन पर भौगोलिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ अपना प्रभाव निरंतर डालती रहती हैं। इन परिस्थितियों के कारण जो प्रत्येक युग में भेद उत्पन्न हो जाता है, वह साहित्य में भी परिलक्षित होता है। यही कारण है कि एक युग का साहित्य दूसरे युग के साहित्य का अनुकरण नहीं होता। मध्ययुगीन दरबारी साहित्य ने जब अनुकरण को ही अपना सर्वोपरि लक्ष्य बना लिया था, तब अपनी प्राणशक्ति से वह अपने आप हाथ धो बैठा था। सहृदयता इस प्रकार

एक प्राकृतिक अवस्था ही नहीं है, वह उसके साथ ही सामाजिक स्वरूप लिए हुए है। प्राचीनकाल में जाति अथवा वर्ण से भी प्रभावित थी, आज उसी के स्वरूपों को 'वर्ग' के अन्तर्गत लिया जाता है। प्राचीनों ने जहाँ एक ओर 'वर्ण' की सत्ता को व्यक्ति के लिये स्वीकार न करके एक 'अति' का प्रदर्शन किया था, नवीनों में जो कुत्सित समाज शास्त्री हैं वे 'वर्ग' की सत्ता को इतना अधिक स्वीकार कर बैठते हैं कि व्यक्ति की सत्ता को ही स्वीकार कहीं करते। वे यह भूल जाते हैं व्यक्ति मूलतः व्यक्ति है, वह जब संपति अथवा उत्पादन के साधन, अथवा स्वार्थ के सम्बन्ध में अन्य व्यक्ति से अपना संबंध स्थापित करता है, तब ही सहज मानवीय गुणों से परिचालित नहीं होता, वरन् अपने स्वार्थ से परिचालित होता है। वे व्यक्ति जो ऐसे संबंध में स्वार्थ से परे उठ जाते हैं सामाजिक जीवन में अपवादमात्र ही कहे जा सकते हैं। यह कुत्सित समाज शास्त्रियों के पक्ष में दूसरी 'अति' का स्वरूप है।

इससे प्रगट होता है कि पुराना और नया दृष्टिकोण अलग अलग है तो अवश्य ही, परन्तु नया ऐसा नहीं कर सकता कि पुराने को तिरस्कृत करके आगे बढ़ सके, क्योंकि प्राचीन लोग मूर्ख नहीं थे। उन्होंने अपनी युग सीमा तक की बात कह दी थी। और हमें उसकी समस्त श्रेष्ठता लेकर अपनी युग सीमा तक विकास करना है। अपने ही युग में रह कर हम अपनी युग सीमा को नहीं देख सकेंगे।

नया दृष्टिकोण यद्यपि आज विदेशी समझा जाता है, परन्तु वस्तुतः ज्ञान की देश प्रान्त में सीमाएं नहीं बाँधी जा सकतीं। वह तो सार्वभौम है। यदि हम यह कहेंगे कि नया नया हैं, अतः वह प्राचीन के ध्वंस पर नया रूप लाना चाहता है, तो उसे हम भूल ही कहेंगे क्योंकि कोई नयापन अपने आप जन्म नहीं लेता। वह अतीत के अभाव को भरने के लिये होने वाले संघर्षों और अंतर्द्वन्द्वों के फलस्वरूप ही जन्म लेता है और परिस्थिति के अनुकूल होने के कारण नया सा प्रतीत होता है। यह नवीनता ही कालांतर में अपना विकास करती हुई जब नवीनतम रूप धारण करती हुई प्रस्तुत होती है, तब अपने पुराने रूप में जब वह अनुकरणीय नहीं रह जाती, तब वह उपेक्षणीय अथवा व्यर्थ नहीं हो जाती, बल्कि सार्थक होती है, क्योंकि वह विकास की एक उपादेय कड़ी बन कर रह जाती है।

: २ :

काव्य का भाव से सम्बन्ध है। भाव हृदयपक्ष को लेकर चलता है। हृदय पक्ष अपने आप में पूर्ण नहीं होता, क्योंकि वह विचार से सम्बद्ध होता है। विचार का विश्लेषण, जो मनोविज्ञान का स्वरूप है, उसकी अवस्थिति का ही नहीं उसकी परिपुष्टि का भी आधार है। इसीलिये काव्य और मनोविज्ञान कर गहरा सम्बन्ध है जो आज के युग में अधिकाधिक प्रभाव डाल रहा है।

काव्य का मनोविज्ञान नीरस नहीं हो सकता। वह वर्गीकृत विचारों और अनुभूतियों का वैज्ञानिक विश्लेषण भर बन कर प्रभाव नहीं डाल सकता। दुरूह से दुरूह मानसिक उलझन काव्य का विषय हो सकती है किन्तु वह तभी काव्य बन सकती है जब न केवल सामाजिक रूप धारण करे, वरन् अभिव्यक्ति में ऐसी हो जिसे दूसरे भी समझ सकें। इसे ही साधारणीकरण कहते है।

प्राचीनों ने जब मनुष्य में 'सामान्य' की प्रतिष्ठा की थी, तब उनके सामने अपने युग के बन्धन थे। भरतमुनि के पहले भी अनेक विचारक हुये थे जिन्होंने नाट्यशास्त्र पर लिखा था। भरत तक आते आते वह शास्त्र इतना परिमार्जित हो चुका था कि उसमें सब तत्कालीन विचार अपनी पूर्णता की एक सीमा प्राप्त कर चुके थे। भरत के पहले के आचार्य्यों के समय ही संभवतः यह झगड़ा उठ खड़ा हुआ था कि काव्य आखिर किसके लिये? यह संघर्ष तत्कालीन उच्च वर्णों से उतर कर इतर वर्णों में भी अपना रूप धारण करने लगा होगा। अंततोगत्वा भरतमुनि के समय में इसका वह समाधान स्वीकार कर लिया गया जो भरत ने प्रतिपादत किया था। भरत ने 'सामान्य' की प्रतिष्ठा की थी। मनुष्य मात्र समान हैं अतः काव्य सबके लिये ही होना चाहिये। इसका अर्थ यह था कि भरत के पहले काव्य को, मनुष्यमात्र की समान भावभूमि के आधार पर, सबके लिये स्वीकार नहीं किया जाता था।

तभी भरतमुनि का नाट्यशास्त्र सब वर्णों के लिये 'पाँचवाँ वेद' स्वीकार किया गया। इसी कारण से भरत के बाद ही प्रस्तुत स्वरूप में स्थित बाल्मीकि रामायण को प्रथम काव्य माना गया था। वेदों पर उच्च वर्णों का अधिकार ही माना गया था। आरण्यकों और उपनिषदों पर भी उच्च वर्णों का ही अधिकार था। जैसे जैसे वैदिक संस्कृति का युग समाप्त होने लगा, तत्कालीन जनभाषा संस्कृत का प्रभाव बढ़ने लगा। बुद्ध के समय में, अर्थात् ईसा की छठी शती पूर्व के समय में, संस्कृत के लौकिक स्वरूप के स्थान पर पालि जन भाषा हो चुकी थी।। उनसे कुछ पूर्व पाणिनि ने भाषा का परिष्कार ही नहीं, अपितु व्याकरण बना दिया था। व्याकरण तब ही बनता है जब भाषा पूर्णतया विकसित हो चुकती है। पाणिनि से भी पूर्व मुनि यास्क ने निरुक्त में भाषा को नियम बद्ध करने का यत्न किया था। तो यह तो स्पष्ट हो गया कि बुद्ध से लगभग तीन चार सौ वर्ष पूर्व ही वैदिक और लौकिक संस्कृत का झगड़ा हुआ था। उस समय में ही भारत में स्थित विभिन्न जातियों की अंतर्भुक्ति हो रही थी। अन्तर्भुक्ति का सामाजिक, धार्मिक और दार्शनिक रूप था और वह एक नई संस्कृति को गढ़ने का प्रयत्न भी था। उस काल में जनता की बढ़ती हुई चेतना, विभिन्न जातियों की अन्तर्भुक्ति, दास प्रथा का क्रमशः ह्रास, व्यापारी वर्ग की शक्ति का, नदियों का व्यापार बढ़ने से व्यापार के संतुलन में परिवर्त्तन करते हुए बढ़ना, इत्यादि अनेक ऐसे कारण थे कि समाज की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति अपने नये अधिकार ढूंढ़ने लगी। उससे पहले ब्राह्मण को ब्रह्मा के मुख से निकला हुआ, और क्षत्रिय को ब्रह्मा की भुजाओं से निकला हुआ माना जाता था। उच्च वर्णों की राय में दास प्रथा में दासों में और दलितों में जीवन नहीं समझा जाता था। यहाँ कुछ लोगों को आपत्ति होगी जो यह कहेंगे कि भारत में कभी भी रोम की सी दास प्रथा नहीं थी। उनसे मैं यही कहूँगा कि उन्हें रोम की सी दास प्रथा देखने के लिये भारतीय इतिहास के अतीत की गहराइयों में जाना पड़ेगा। रोम एक नया देश था, भारत बहुत पुराना है। जब रोम में दास प्रथा थी, उस समय भारत में सामन्तीय व्यवस्था का उदय हो रहा था।

तो जिस समाज में न केवल आर्थिक और राजनैतिक उथल पुथल थी

वरन् समाज का नया रूप नया दर्शन चाहता था, वहीं हमें उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप की नयी नयी व्याख्या भी मिलती है। उपनिषद् के ऋषि वैदिक विराट पुरुष की व्याख्यामात्र से सन्तुष्ट नहीं थे। ब्राह्मण चिंतन विकास कर रहा था। इस युग के अन्त में ही भरत मुनि ने पूर्णतया प्रतिपादित कर दिया था कि मनुष्य और मनुष्य में, जन्म भेद के कारण, वर्ण भेद के कारण, कोई मूलभूत भेद नहीं होता, मनुष्य मूलतः अपनी भावभूमि में समान हैं।

यह इतनी बड़ी उथल-पुथल कर देने वाला सत्य भारत में कितने पहले स्वीकार कर लिया गया था! काव्य तो समाज के जीवन की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति होती है, यह अभिव्यक्ति तभी आती है, जब उसके पीछे की नीरस दर्शनप्रणाली जीवन का अङ्ग बन जाती है। भारत में यह इतने पहले स्वीकार कर ली गई थी, इसे देखकर आश्चर्य करना अपने पूर्वजों को मूर्ख समझने के बराबर होगा। वह स्वीकृति कितनी लम्बी परम्परा का अन्त थी, यह क्या हमें भूल जाना होगा। यह असाधारण सत्य दास प्रथा के अन्त में ही स्वीकृत हो सकता था। रोम साम्राज्य में ईसा-मसीह ने भी अपने उपदेशों में इसी सत्य को प्रतिपादित किया था। ईसा भी दास प्रथा के नाश के समय हुआ था।

अब जब कि यह सर्वमान्य रूप से स्वीकृत हो गया कि मनुष्य 'सामान्य' है तब पुराने आचार्य्यों के सामने दूसरा ही प्रश्न उठा।

'क्या कारण है कि काव्य सबको पसन्द नहीं आता?'

इसी प्रश्न का हल प्रस्तुत करने के लिये 'सहृदय' की आवश्यकता हुई; ताकि यह कह दिया जाये कि जो सहृदय नहीं हैं, वह काव्य का आनन्द नहीं ले सकता। आज जो कहते हैं कि 'कला कला के लिये' है, वे इसी 'सहृदयता' की आड़ को लेकर चलते हैं। ऊपर हम सहृदयता के विषय में बता चुके हैं कि व्यक्ति समाजगत होता है। और 'सहृदयता' की स्वीकृति स्पष्ट ही कहती है कि काव्य उसी मनुष्य को स्वीकार करता है, जो कि समाजगत प्राणी है। पुराने लोग 'सामान्य' की प्रतिष्ठापना उस विरोध के विरुद्ध कर गये थे जो मनुष्य की सर्वभूत 'सामान्यता' को नहीं मानता था। परन्तु आज परिस्थिति और भी गहरा विश्लेषण चाहती है। यह सत्य है कि मनुष्य मूलभूत रूप से 'सामान्य' है परन्तु वह तभी तक सामान्य रहता है जब तक वह अपनी वर्गगत

परिस्थिति के लपेटे में नहीं आता, जिसे कि हम ऊपर उत्पादन के साधनों के सम्बन्ध में समझा चुके हैं। जब मनुष्य के ऊपर जाति, वर्ग इत्यादि के भेदशील परिवेष्टन नहीं रहेंगे, तब ही वह सहज सामान्य मूलभूत 'सामान्यता' की वास्तविक आधारभूमि पर खड़ा होगा। जो कुछ मार्क्सवादी कहते हैं वे यूरोपीय चिन्तन की अपूर्णता के कारण पूर्णतया स्पष्ट नहीं कर पाते। उसका स्पष्टीकरण तब ही होता है, जब भारतीय चिन्तन की मानवीयता के मथे हुए रत्न आकर उसको परिपूर्ण बनाते हैं। सामान्य की यही भावभूमि वास्तव में काव्य की दृष्टि से उत्कृष्टतम है।

जो इस 'सामान्य भूमि' को व्यक्तिपरक मानकर उसे देश काल से दूर करके देखना चाहते हैं, वे ही मनोविज्ञान का एक ऐसा आडम्बर खड़ा करते हैं कि उनका प्रतिपादित 'सामान्य' फिर समाजगत 'सामान्य' नहीं रह जाता।

काव्य की निरपेक्षितावादी भावना का जन्म यहीं होता है। अर्थात् प्रतिपाद्य विषय के लिये आवश्यक नहीं है कि वह अपने भीतर कोई ऐसे तथ्य निहिति करे कि कोई उससे किसी प्रकार की अपेक्षा करे। ऐसे विचारकों का कथन है कि सौन्दर्य तो अपने आपमें पूर्ण होता है। कवि की अभिव्यक्ति जब उसकी अनुभूति में उतरती है तब ही काव्य का जन्म होता है। और क्योंकि अनुभूति का प्रकटीकरण एक वैयक्तिक सीमा में होता है, वह उसी व्यक्ति की समझ में आ सकता है जो कि अपने को उसी सीमा में लेजा सकने की सामर्थ्य अथवा योग्यता रखता है। काव्य किसी विशेष दृष्टिकोण का प्रचार नहीं है। वह स्वतः सिद्ध आनन्द है, जिससे लाभ हो या न हो, वह स्वयंपूर्ण है। वह तो एक अमूर्त काल्पनिक स्वायत्तगरिमा है जिसकी अक्षुण्णता को किसी भी प्रकार की चुनौती नहीं दी जा सकती।

एक अंश तक तो यह ठीक है कि अभिव्यक्ति और अनुभूति का तादात्म्य काव्य का जन्मदाता है और मूलतः किसी न किसी रूप में सौन्दर्य ही उसका प्रतिपाद्य भी है, किन्तु इसमें दो भ्रान्तियों पर दृष्टिपात नहीं किया जाता।

१—पहली बात तो यह है कि सौन्दर्य अपने आप में पूर्ण नहीं है, क्यों कि सौन्दर्य सदैव सापेक्ष्य है। उसे किसी भी ऐसी परिभाषा में बद्ध नहीं किया जा सकता, जिसके बाहर सौन्दर्य असुन्दर में परिगणित है। मन को अच्छा

लगने वाला ही सुन्दर है। दर्शनशास्त्र में अच्छे को ही न्याय्य और उचित भी बताया गया है और इसीलिये सत्य को सौन्दर्य ही माना गया है। सत्य सौन्दर्य के न्याय्यस्वरूप की वह व्याख्या है, जो समाज की प्रचलित नैतिकता से ही मेल नहीं खाती, वरन् तत्कालीन मनुष्य के ज्ञान की समस्त निधि के सारांश के रूप में प्रकट होती है। जिस समाज ने सत्य को पूर्ण (Absolute) कहा था वह समाज अपने व्यवहार 'असम', 'वैषम्य' पर स्थित था। ब्रह्म को ऊपर उठा कर परोक्ष करने में जहाँ एक प्रगति थी कि तत्कालीन समाज ने छोटे-छटे देवताओं की स्वीकृति को ठुकरा कर व्यापकत्व बन्धुत्व के रूप में विराटतर ईश्वर को माना था, वहाँ उसमें यह गतिरोध भी था कि ईश्वर इतना परोक्ष बन गया कि उसने समाज जीवन से एक प्रकार की पराङ्गमुखता को अपना लिया। इस प्रकार के द्वन्द्व ने जब विकास किया तब भक्तिवाद का प्रचलन हुआ जिसने परोक्ष सत्ता की स्वीकृति को अवतार लेने पर विवश किया। सत्य का 'पूर्णत्व' वर्णित करने वाले 'सब में' निहित 'व्यापकत्व' को सब से 'परे' बनाते हैं, और उस 'पर' में जाकर सौन्दर्य के प्रारम्भ को ढूँढ़ते हैं, जब कि 'पर' में नहीं, 'सब में' ही उसकी अभिव्यक्ति है और सत्य 'यहाँ' से उठकर 'वहाँ' नहीं चला जाता, वह तो व्याप्त है। अर्थात् रहस्य का उद्‌घाटन 'वस्तु' के भीतर से होना है, न कि उसके बाहर से। वेदान्तियों के इस सत्य की परीक्षा ही निरपेक्षितावाद के मूल को काटती है। वैसे साधारणतया भी यदि व्यावहारिक जीवन को लें तो भी दैनन्दिनी चर्य्या में ही सौन्दर्य अन्योन्याश्रितभाव है। निरपेक्षितावाद गति की कुण्ठा का पर्य्याय है। यदि काव्य में निरपेक्षितावाद को स्वीकार किया जा सकता है तो वहीं, जहाँ वह व्यक्ति की लघुता को विनष्ट करता है, और 'अहं' के स्थान पर 'वयं' की परिपुष्टि करता है।

२—यह इस पर निर्भर करता है कि हम काव्य की प्रेरणा किसे मानते है। काव्य को प्रेरित करने वाला कौन हैं ?

प्राचीनकाल में बहुत सुन्दर ग्रन्थों के रचने वाले अर्थात् वेद के प्रणेता ऋषि, और कुरआन के रचयिता मुहम्मद, मूलतः कवि थे। आज भी हिन्दू यह मानते हैं कि वेद मनुष्य कृत नहीं है, और मुसलमान यह स्वीकार करते

हैं कि इलहाम जैसी अवस्था में रसूल को कुरआन का ज्ञान प्राप्त हुआ। इसका क्या अर्थ है? एक तो यह कि जिस नियम को समाज स्वीकार करता है उसे दैवी बनाना चाहता है, ताकि उसमें से चमत्कार की गन्ध आती रहे। दूसरे यह कि वह सहज ही यह विश्वास नहीं करना चाहता कि इतनी सुन्दर रचना किसी एक ही व्यक्ति की बनाई हुई है। भारत में यद्यपि वेद इतना पूज्य है, परन्तु व्यवहार में भले ही उसके सामाजिक नियमों का पालन किया गया हो, उससे निरन्तर प्रेरणा लेकर भी, उसे अपने चिन्तन का आधार या स्रोत मानकर भी, भारतीय दार्शनिकों ने स्वतन्त्र पथ का अवलम्बन किया है और कपिल मुनि इसके उदाहरण हैं। कुरआन एक परवर्ती ग्रंथ है और उसके अनुयायियों को विचार स्वातन्त्र्य का अधिकार भी नहीं है। जिन सूफियों ने विचार स्वातन्त्र्य दिखाया था, उन्हें अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़े थे।

सारांश यह है कि पुराने लोग यह मानते थे कि काव्य एक दैवी शक्ति है और वह तो अपने आप व्यक्ति में उतर आती है। विकास के अगले चरण ने कवि को दैवी शक्ति से तो वंचित कर दिया, किन्तु प्रतिभा को माना, जिसे भी ईश्वर की एक कृपा के रूप में स्वीकार किया गया। अन्तिम चरण में प्रतिभा को व्यक्ति की ध्याननिष्ठता के रूप में माना गया।

काव्य की प्रेरणा का मूल स्रोत इस ध्यान निष्ठता में है। वह किसके प्रति है और उसमें क्या शक्ति है? मूल प्रेरणा संवेदनात्मकता के बीज से कोमल बन कर फूटती है। उसी के पल्लवित होने पर अनेक प्रकार से वह काव्य का विशाल वृक्ष उपस्थित होता है, जिसमें मनोहारिणी छाया करने की शक्ति होती है।

यह संवेदनात्मकता सदैव सापेक्ष ही हो सकती है, क्योंकि जब तक किसी भी सम्बन्ध से भाव अपने क्षेत्र को छोड़ कर दूसरे क्षेत्र में नहीं आता, तब तक अभिव्यक्ति की आवश्यकता हो ही नहीं सकती। स्पन्दन का प्रारम्भ किसी अन्य से सम्बन्ध होता है और जब वह सम्बन्ध उत्पन्न होता है, तब किसी अन्य से उसका अन्योन्याश्रय भी प्रारम्भ होता है। कौन सा व्यक्ति है जिसके भाव में नितान्त निःसंगत्व है। वह तो योगी में ही कहा जाता है, और योगी काव्य-

क्षेत्र की मीमांसा के भीतर नहीं आता। सम्बन्ध सापेक्षता की अपेक्षा रखता है। सापेक्षता ही, जब काव्य के मूल प्रकरण का आधार है, तब उसके उदात्ततम होने का एकमात्र आश्रय उसकी विस्मय मूलकता में नहीं हो सकती, उसे तो उस प्रेषणीयता का आधार लेना होगा जो अधिक से अधिक दूसरे के निकट पहुँच सके।

किन्तु निरपेक्षतावाद के विरोध का अर्थ यह कदापि नहीं निकलता कि काव्य को उपदेशात्मकता के ही परिधान की आवश्यकता है। उपदेश सुनने वाले को तुम नहीं बताते, चिढ़ाते हो। उपदेश देने में यह निश्चित रूप से प्रकट हो जाता है कि बोलने वाला अपने को सुनने वाले से अधिक चतुर समझता है और अपनी योग्यता को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाना चाहता है। ऐसे असंख्य दोहे हैं जिनमें उपदेश ही उपदेश भरे पड़े हैं, परन्तु उन्हें पढ़ कर जीवन पर कभी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। बड़े होने पर तो उपदेश बुरे लगते ही हैं, बाल्यावस्था में भी उपदेशों के प्रति एक सहज रुखाई होती है। भारतीय आचार्य्यों ने इस विषय पर कलम तोड़ दी है। कांता समिति उपदेश की व्याख्या करके उन्होंने इस विषय को स्पष्ट कर दिया है। स्वयं भरत मुनि का नाट्यशास्त्र ही प्रमाणित करता है कि नाट्य वेद का उदय इसीलिये हुआ था कि उपदेशों को सुन्दर ढङ्ग से सब वर्णों में पहुँचाया जा सके।

उपदेश वहाँ अपने आदेश की रुखाई को खो देने में समर्थ हो जाता है, जहाँ वह विषय के भीतर लय हो जाता है। जब तक विषय इतना समर्थ नहीं हो जाता कि अपनी ध्वन्यात्मक गरिमा को प्रतिबिम्बित करने लगे, तब तक वह अपना वास्तविक प्रभाव डालने में असमर्थ रहता है।

इससे तथ्य निरूपण हुआ कि उपदेशात्मकता और अपेक्षितावाद एक नहीं हैं। इन दोनों में ही अन्तर है और वह काव्य को बना-बिगाड़ सकता है।

काव्य का वास्तव में अर्थ निरन्तर बदलता रहा है। एक समय था जब काव्य में सब कुछ अन्तर्निहित था। प्रत्येक विषय के छन्द-बद्ध वर्णन लिखे जाते थे। उन्हें याद कर लेने में आसानी होती थी। किन्तु शीघ्र ही विभाजन प्रारम्भ हो गया। वैदिक काव्य में दर्शन, धर्म, राजनीति, कर्मकाण्ड, स्तुति, इत्यादि सब ही परिगणित होते थे। लौकिक संस्कृति में काव्य की परिभाषा

बदल गई। इसीलिये वेद को काव्य नहीं कहा जाता। वेद का अर्थ है—ज्ञान। वैदिककाल और लौकिक संस्कृत काल के बीच की वस्तु महाभारत है। महाभारत में क्या नहीं है? रूप वर्णन, प्रकृति वर्णन, भाव वर्णन और काव्य के प्रायः समस्त उपकरण उसमें मिल जाते हैं। फिर भी महाभारत को इतिहास कहा गया है, काव्य नहीं। जैसा कि कहा जा चुका है, वैदिक साहित्य उच्चवर्णों के ही लिये था। महाभारत को पंचमवेद कहा गया है। अब यह एक महत्वपूर्ण विषय है कि एक ओर जहाँ भरत मुनि के नाट्यशास्त्र को पंचम वेद की संज्ञा दी गई है, वहाँ दूसरी ओर महाभारत को भी पंचमवेद कह कर पुकारा गया है। तब यह ज्ञान हुआ कि वैदिक युग के बाद जो विकास हुआ, तत्कालीन लोगों में उसके प्रति बड़ी आस्था थी, और साहित्य में ही नहीं, सामाजिक जीवन में भी उसका मुक्तकण्ठ से आह्वान हुआ। वेद के ही पूज्य रूप में किसी का स्मरण किया जाना काफी महत्त्वपूर्ण बात है। यही वह समय है जब कि समाज में एक ओर तो जातियों की परस्पर अन्तर्भुक्ति हो रही थी, दूसरी ओर दर्शन और साहित्य के नये मानदण्ड प्रस्तुत हो रहे थे। इस युग परिणाम स्वरूप भारतीय जीवन में रामायण धीरे-धीरे अपना प्रस्तुत स्वरूप पकड़ने लगी जिसमें 'पुरुषत्व' पर अधिक बल दिया गया, और वह 'भाग्यवाद' धीरे-धीरे हारने लगा जिसका प्राचुर्य्य महाभारत में मिलता है।

इस रामायण को प्रथम काव्य की संज्ञा दी गई। और इसके कुछ पूर्व या समसामयिक काल में भरत ने धीरोदात्त नायक की कल्पना को स्थिर किया था और तत्कालीन समाज ने उसे श्रेयस्कर समझ कर मान्यता दी थी।

काव्य उसके बाद धीरे-धीरे परिमार्जित होने लगा। संस्कृत के क्लासिक युग में तो कमाल हो गया। कलात्मक सौन्दर्य की पराकाष्ठा तो हुई ही, भाव पक्ष भी कम नहीं रहा। यह महाकवियों की ही सामर्थ्य थी कि वे इतनी महान रचनाएँ दे गये कि आज भी वे ग्रन्थ इतिहास रूपी जल प्लावन में 'हिमगिरि के उत्तुंग शिखरों' की भाँति दूर से 'मनु' को अपनी ओर बुलाते हैं और विनाशान्धकार में आशा का संचार करते हैं।

परन्तु यह बात अधिक नहीं रही। जैसे-जैसे काव्य दरबारों में फँसता गया

उसकी सामर्थ्य नष्ट होती गई और अन्ततोगत्वा वह जाकर बैसाखियों पर टिक गया।

काव्य अपने विभिन्न स्वरूपों में विभिन्न युगों में प्रस्तुत हुआ है। उसका वाह्यरूप बराबर बदलता रहा है। उसके अर्थ में भी परिवर्तन हुआ है। आज भी विद्वानों में काव्य के विषय में एक ही मत नहीं है। काव्य के उद्देश्यों के विषय में तो स्पष्ट ही बहुत भेद माना जाता है।

इन भेदों के रहते हुए भी काव्य की आत्मा के विषय में भारतीय चिन्तन में भरत के बाद से आज तक, वाह्य भेद मानने पर भी, मूलभेद नहीं माना गया। वेदान्तियों ने उसी आनन्द की, जो काव्यात्मा है, अपने ढङ्ग से व्याख्या की, और जैनों और बौद्धों जैसे वेद विरोधी, अनीश्वरवादियों ने अपने ढङ्ग से व्याख्या की किन्तु उन्होंने तत्त्व को एक ही माना; वह तत्त्व था आनन्द। आनंद को ब्रह्मानन्द सहोदर कहने का तात्पर्य्य है उसे लोकोत्तर आनंद कहना। लोकोत्तर का अर्थ केवल यह है कि जो सहज ही किसी सांसारिक वस्तु से नहीं मिलता। यहाँ लोकोत्तर का अर्थ कोई चमत्कार नहीं है। अमूर्त्त से तात्पर्य मुख्य है और क्योंकि अमूर्त्त आनन्द की कई सीमाएँ हैं, उनमें सबसे ऊँचा जो है उसे ही विशेष करके स्वीकार किया गया।

शताब्दियों से काव्य उसे कहते हैं जिसमें भाव के संसार से बात होती है। जो भाव को जगाता नहीं, उसमें मन रमता नहीं। इसीलिये वही काव्य कहलाता है जो भाव से सम्बन्ध रखता है। आचार्य्यों ने भाव का रस से संबंध जोड़ा है। इसीलिये काव्य को, उसकी अत्यन्त संक्षिप्त व्याख्या में, रसात्मक वाक्य कहा गया है। और यह ठीक भी है। जिस बात में रस नहीं है, वह काव्य नहीं कहला सकता।

प्रसिद्ध कथा है कि कादम्बरी के अधूरे रह जाने के खेद में महाकवि बाण भट्ट ने अपने दोनों पुत्रों को बुलाया और उनसे उसे पूरा कर देने की बात को उठाया। एक वैयाकरण था, सो उसने कहा—शुष्को वृक्षः श्तिष्ठ त्यग्रे! अर्थात् सूखा पेड़ सामने खड़ा है। दूसरा भावुक था, उसने कहा—नीरस तरुवर विलसति पुरतः। अर्थात् बिनारस का वृक्ष सामने शोभित है। कहा जाता है बाण ने दूसरे को ही कार्य्य समाप्त करने का भार सौंपा।

हो सकता है आप के नये विचारक इस विचार से मतभेद रखते हों। वे भाषा के सौष्टव को उच्च वर्णों का विलास कहते है। यहाँ हमें दो बातें स्पष्ट करनी हैं। बाण के समय में भाषा का लालित्य और सौन्दर्य अधिक महत्त्व रखता था। दूसरी बात है कि भाषा को सौष्ठव का होना काव्य के लिये आवश्यक है। सौष्टव का अर्थ क्लिष्टता नहीं है। यह कैसा आश्चर्य्य है कि जब संस्कृत को सिखाया जाता है, तब पुराने आचार्य्य अब भी कालिदास के रघुवंश से प्रारम्भ करते है। अर्थात् वे मानते है कि कालिदास बहुत सरल है। कालिदास बहुत सरल होने ही से क्या महान कवि नहीं है। ऐसा ही हिंदी के पुराने महाकवियों के विषय में भी कहा जा सकता है। इससे भी प्रमाणित होता है कि हमने काव्य कला और शास्त्र के जो तीन रूप ऊपर समझाये हैं, वे बिल्कुल ठीक है। प्रतिभा का अभाव ही भाषा की बैसाखियों पर अधिक से अधिक निर्भर होता है।

काव्य तो बड़ा व्यापक है, वह किसी भी विषय पर हो सकता है। खेत, खदान, मिल, और सड़क से लेकर वह महल, आकाश और स्वर्ग तक की कल्पना का साकार रूप बन सकता है, किंतु सबमें एक वस्तु का अभाव होने से कोई भी वर्णन काव्य का नाम नहीं पा सकता। वह अभाव है भावहीनता। यदि भाव से उसका सम्बन्ध नहीं है तो फिर वह काव्य नहीं है। बीमाकम्पनी के दस्तावेज, इतिहास के वर्णन आदि इसीलिये काव्य नहीं माने जाते। सम्वाददाताओं के विवरण काव्य नहीं है। परन्तु समाचारपत्रों में प्रकाशित वे भावात्मक विवरण काव्य की संज्ञा प्राप्त करते हैं जो भाव को जाग्रत करते हैं। काव्य के रूप देखते समय हम ऐसे रूपों के विषय में विवेचन करेंगे।

सारांश में हमें कहना होगा कि प्रगति के नाम पर हम अपने लिये ऐसा चमत्कार खड़ा नहीं कर सकते कि हम यह दंभ से प्रमाणित करने लगें कि हम 'ज्ञान' की पहली और अंतिम पीढ़ी हैं। हमारे इतिहास में जो मानवीयता की अपनी सत्ता है, उसके आधार पर जो आचार्य्यों ने नियम प्रतिपादित किये हैं, उनमें बहुत से नियम हैं जो इतने ठीक हैं कि आज भी साध्य है। उनकी ओर दृष्टिपात न करना एक भूल होगी। आखिर वे नियम एक विकासशील समाज में बने हैं। यह सत्य है कि यूरोप की भांति हमारा इतिहास झटकों से

नहीं बदला। यहां तो जो परिवर्त्तन हुए हैं, वे धीरे धीरे हुए हैं। परिवर्त्तनों के साथ ही साथ, यहाँ की विचार धाराएँ भी धीरे धीरे ही बदली है। उन्हें समझने के लिये धैर्य्य की आवश्यकता हैं। यूरोप का अन्धानुसरण करने वालों को जानना चाहिये कि भारतीय जीवन कितना गंभीर और बहुरूप रहा है। जो लोग कि पुरातनता के पक्षपाती हैं, वे भारतीय जीवन को गतिशील नहीं मानते, वे समझते हैं कि यह सब अकस्मात हुआ, कोई खेल है। आलोचकों का एक तीसरा वर्ग है। वह 'कला कला के लिये' का मानने वाला है। वह यूरोप की मध्यवर्गी चेतना से आधुनिकता लेता है, और अपने शास्त्र की दुहाई देता हैं भारतीय चिंतन में से। इन लोगों को स्पष्टतया समझने के लिये आवश्यक है कि हम स्वयं भारतीय चिंतन की व्यापकता, मानवीयता और उसकी अथाह गहराई को देखें। और यह कहना अनावश्यक होगा कि यूरोप की संस्कृति बहुत बाद की है। उसकी भारतीय संस्कृति से तुलना करना सूर्य्य को दर्पण दिखाने के समान है। मैं यह कह कर यूरोप के ज्ञान का निरादर नहीं करता। मुझ में उसके प्रति भी अगाध श्रद्धा हैं। ज्ञान तो सार्वदेशिक होता है। मेरा कहने का तात्पर्य्य इतना है कि भारतीय जीवन और चिंतन इतना पुराना और विविध है कि यूरोपीय चिंतन के मानदण्ड उसे पूरी तरह से मानने में असमर्थ हैं। यूरोपीय श्रेष्ठ मानदण्डों के साथ साथ हमें भारत की अपनी विशेषताओं को भी देखना नितांत आवश्यक है।

: ३ :

विभिन्न युगों में कवियों ने विभिन्न प्रकार की कविता लिखी है। यदि पुरातनतावादी आलोचक से पूछा जाये कि ऐसा क्यों होता है तब वह कहेगा कि व्यक्ति की प्रतिभा असीम होती है, वह चाहे जैसी वस्तु लिख सकता है। किंतु यह कहते हुए वह केवल आंशिक सत्य कहता है। युग का अपने समय के काव्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इसे देखने के लिये हमें काव्य की यात्रा पर दृष्टिपात करना आवश्यक होगा। किंतु इससे पूर्व हमें यह स्पष्ट कर लेना चाहिये कि युग क्या है? युग से तात्पर्य्य है समाज की परिस्थिति का; उसकी राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक तथा दार्शनिक, एवं समस्त परिस्थितियों का कवि मानस पर प्रभाव पड़ता है। युग के बदलने पर कवि भी बदलता है और कविता भी नया रूप धारण करती है। एक ही समय में विभिन्न विचार धाराएँ रह सकती हैं, परन्तु उनकी अभिव्यक्ति का रूप बहुत भिन्न नहीं हो सकता।

कवि सुमित्रानन्दन पंत ने कहा है—

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से निकला होगा गान।
उमड़ कर आँखों में चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान॥

एक विशेष युग में कवि की ऐसी धारणा बनी है कि दुख ही वह मूल कारण था, जिसने कविता की प्रेरणा को जन्म दिया था।

पंत से शताब्दियों पूर्व महाकवि बाल्मीकि के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने कविता का पहला छन्द करुणा से आर्द्र-हृदय हो उस समय हठात् कह दिया था जब क्रौञ्च मिथुन में से एक को ब्याध ने उनके सामने मार दिया था—

मा निषाद् प्रतिष्ठांत्वम्
अशमः शाश्वती समाः
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकं—
अवधी काममोहितम् ।

यहाँ दुख स्व न होकर परानुभूति के रूप से प्रगट हुआ है ।

तो क्या वेदना ही काव्य का मूल है ?

मेरी राय में ऐसा नहीं है । संगीत की उत्पत्ति गंधर्वों में हुई थी क्योंकि नन्दी ने उन्हीं से यह शिक्षा प्राप्त की थी । भाव प्रकाशनम् का ग्रन्थकार शारदातनय संगीत का ध्येय मनोरंजन बतलाता है । भरत नाट्यशास्त्र में भी लोक हित और मनोरंजन को नाट्यवेद का कार्य्य बताया है ।

नाद का मूल ओंकार जब त्रिभुवन में आवरीवत् आकाश में गूंजा था, या पाणिनि के सूत्रों से बद्ध कथा के अनुसार—एज्या, ऋण-ऋक् सूत्रों के मूलनाद की उत्पत्ति जब शिव के डमरू से प्रतिध्वनित हुई थी तब उसके साथ वेदना का भाव नहीं था ।

कविता की संवेदनात्मकता का यह अर्थ नहीं कि संवेदना दुख की ही होती है । काव्य का जन्म संगीत से हुआ और वह सामूहिक श्रम के द्वारा हुआ । जैसे जैसे समान विषम होता गया काव्य भी दुख से भरता गया । आज तक जो काव्य प्राप्त होता है उसमें ऋग्वेद सबसे प्राचीन है । उसमें प्रधान स्वर वेदना का नहीं, प्रार्थना और ओज का है ।

अब हमें काव्य को विभिन्न युगों में देखना चाहिये ।

(१) ऋग्वेद के प्रारम्भिक भाग को ही अभी तक का सबसे पुराना काव्य मान सकते हैं । इसको किसी एक कवि ने नहीं लिखा । इसके लिखने वालों में स्त्रियाँ भी थीं और बहुत से तो अनार्य्य कवि भी दिखाई देते हैं । पर्वत तो स्पष्ट ही पौराणिक साहित्य में गंधर्व माना गया है, जो इसका एक कवि है । पर्वत के साथ ही संबद्ध रूप से नारद का भी नाम आता है जिसके सामवेद में गीत आते है । इनके मंत्रों को सहज रूप से ही वेद में संकलित किया गया है । यह प्रगट करता है, वेद में इतर जातियों के भी व्यक्तियों की कविताएँ संग्रहीत हैं ।

ऋग्वेद एक ऐसे समय की रचना है जिसमें कि छन्दों का अच्छा ज्ञान था। कुछ छन्दों के नाम हम यहाँ देते है—चतुर्विंशतिक द्विपदी, एकषट् त्रिष्टुभ, गायत्री, जगति, ककुभ, मध्ये ज्योतिष, अभिसारिणी, अनुष्टुप के अनेक रूप, बिष्टर पंक्ति और यवमध्या, इत्यादि अनेक छन्दों की प्राप्ति प्रगट करती है कि कई छन्द थे और उनका ज्ञान कवियों को था।

ऋग्वेद में सूत्र हैं और उनमें किसी विशेष देवता या अनेक देवताओं की स्तुति हैं।

दुर्दैव मिटाने के उपायकारी सूक्त, गर्भ की रक्षा करने वाले सूक्त, गो पशुधन की रक्षा करने वाले सूक्त, दुःस्वप्न बाधा हरण, राजयक्ष्मारोग विनाशन, सपत्नी अत्याचार-मुक्ति, प्रतिस्पर्धी-निवारण, एकता स्थापन आदि अनेक ऐसे विषय हैं जो इन स्तुतियों के अतिरिक्त भी वर्णित हैं।

ऋग्वेद में इतिहास के प्राचीन लोगों के नाम है, सृष्टि के विकास की कथा है और सृष्टि के रहस्य पर उठाये हुए प्रश्न भी हैं।

इन सबसे ज्ञात होता है ऋग्वेद का विषय विस्तृत है और विभिन्न कवियों ने विभिन्न विषयों पर गीतों की रचना की है।

इन रचनाओं से एक बात प्रगट होती है कि यह सब एक ही समय में नहीं बनीं, काफी समय तक यह रचनाएँ बनती रहीं। और बाद में इनका संकलन हुआ।

इतिहास के दृष्टिकोण से पूर्व वैदिककाल में भारत में विभिन्न जातियाँ बसती थीं। आर्य्येतर जातियाँ जैसे असुर, राक्षस, इत्यादि सशक्त जातियाँ थीं और इनमें दास प्रथा थी। आर्य्यों में भी दास प्रथा धीरे धीरे बढ़ चली। प्राचीन घुमन्तू जातियाँ खेतिहर अवस्था तक पहुँच गईं। बीच के समय में वे चरागाहों की, 'गोष्ठों' की खोज में घूमती रहीं। अंततोगत्वा वे जमकर रहने लगीं और अपनी शक्ति बढ़ाती हुईं विजय की ओर बढ़ीं। तभी ऋग्वेद के प्रथम अध्याय में ४ अनुवाद के १२ वें सूक्त में अग्नि देवता से कण्व का पुत्र मेधातिथि कहता है:

अग्निं दूतं वृणीमेह होतारं विश्ववेदसं।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्॥

अग्नि मग्नि हवीमभिः सदा हवन्त विशपतिं ।
हव्य वाहं पुरुप्रियाम ॥

इत्यादि । अर्थात् हम देवदूत, देवाहवानकारी, निखिल संम्पत्संयुक्त और इस यत्न के सुसम्पादक अग्नि को भजते हैं । प्रजारक्षक, हव्य वाहक, और बहु-लोक प्रिय अग्नि को महाकर्त्ता आवाहक मंत्रों द्वारा निरंतर आह्वान करते हैं ।

आगे कवि कहता है—हे काष्ठोत्पन्न अग्नि ! छिन्न-कुशोवाले यज्ञ में देवों को बुलाओ । तुम हमारे स्तोत्र-पात्र और देवों के बुलाने वाले हो । क्योंकि देवताओं का दूतकर्म तुम्हें प्राप्त हो चुका है, इसलिये हव्याकाङ्क्षी देवों को जगाओ, देवों के साथ इस कुश-मुक्त यज्ञ में बैठो ।

घृताह्वन दीदिवः प्रतिष्म रिषतोदह ।
अग्ने त्वं रक्षस्विनः ॥

अर्थात् हे अग्नि ! तुम घी से बुलाये गये हो और प्रकाशमान हो । हमारे द्रोही लोग राक्षसों से मिल गये हैं । उन्हें तुम जलादो ।

उपर्युक्त प्रार्थना धन की मांग करती है, और शत्रुओं का विरोध चाहती है । काव्य की दृष्टि से इसमें आज के पाठक के लिये कोई आनन्द नहीं है । प्रकृति के वर्णन में कवियों ने बहुत सुन्दर कविता की है । परन्तु वैसा हर जगह नहीं है ।

इसी अध्याय में २६ वें सूक्त में धनी दरिद्र समाज का चित्र उपस्थित होता है—

यच्चिद्धि सत्य सोमपा
अनाशास्ता इव स्मसि ।
आतू न इंद्र शंसय गोष्वश्वेषु
शुभ्रिषु सहस्रेषु तुरीमघ ।
अर्थात् हे सोमयायी और सत्यवादीइन्द्र !

यद्यपि हम कोई धनी नहीं है, तो भी, हे बहुधनशाली इन्द्र ! सुन्दर और असंख्य गौओं और घोड़ों द्वारा हमें प्रशस्त धनवान करो । और—

समिन्द्र गर्दभं मृण नुवन्तं पापया मुया
आ तू न इंद्र शंसय गोष्वश्वेषु
शुभ्रिशु सहस्रेषु तुरीमघः ।

अर्थात् हे इन्द्र ! इस गर्दभ-रूप शत्रु पाप या वचन द्वारा तुम्हारी निंदा करता है, इसे वध करो ।

तत्कालीन परिस्थिति के विषय का वर्णन करते हुए कवि ने उसके विषय में यह नहीं सोचा था कि कालाँतर में इस की रचना का स्थायी मूल्य क्या होगा । खैर । यह तो उन लोगों के लिये हमने कहा जो केवल 'कला कला के लिये' ही चिल्लाते रहते हैं । उनकी कला तो उन्हीं के अनुसार देशकाल से कोई सम्बन्ध ही नहीं रखती ।

परन्तु हमारे काव्य का प्रारम्भ बताता है कि काव्य समूह के लिये था और उसमें अन्य विषयों के साथ बहुलता से युग की समस्याओं को अधिकतर लिया गया है । वह सुन्दर इसलिये हैं कि उसमें विषयानुकूल ओज और प्रसाद है । वह अब भी सुन्दर इसलिये लगता है कि उसमें अब भी तत्कालीन चित्र खड़ा करने की अद्‌भुत सामर्थ्य है ।

यहाँ विस्तार से ऋग्वेद पर लिखना हमारा ध्येय नहीं है । केवल काव्य का रूप प्रस्तुत करना ही हमारे लिये अलं है । समाज की समस्या का रूप पुरुष सूक्त में मिलता है, किन्तु वह निस्संदेह यजुर्वेद का अङ्ग है, जो बाद में ही संभवतः ऋग्वेद में जोड़ दिया गया था ।

(२) परवर्त्ती वैदिक काल में आर्य्यों का संघर्ष अनार्य्यों से अधिक बढ़ा था । उस समय उच्चवर्णों ने स्वीकार कर लिया था कि शूद्र भी समाज के अङ्ग थे । निस्सन्देह उस समय दासों में से बहुत लोग शूद्र कहलाये थे ।

यजुर्वेद का विषय ऋग्वेद के विषय से भिन्न है और समाज अगली मंजिल की ओर इङ्गित करता है । यज्ञादि के विषय में तो अधिक लिखा ही गया है, इसमें परलोक का भी अधिक प्रभाव है । और विजयाकाङ्क्षी जाति ने अश्वमेध का अधिक वैभव गाया है । देख कर ही लगता है कि यह समाज पहले के सरल समाज की तुलना में कहीं अधिक विषम होगया था । इतिहास के

दृष्टिकोण से रघुकुल के राम इसी युग में हुए थे। इस समय की कविता में स्तोत्र और प्रार्थना भी पहले जैसी सहज नहीं रही है—

स ऊँ हितासि विश्वरूप्यूर्जा
मा विश गौपत्येन।
उप त्वाग्ने दिवे दिवे
दोषाव स्तर्द्दिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि।
[यजुर्वेद ३. २२.]

अर्थात् अन्न को धारण करते हुए हम लोग, अपनी बुद्धि वा कर्म से जो अग्नि रूप से सब पदार्थों के साथ, वेगादि से पशुओं के पालन करने वाले के साथ, वर्त्तमान से मुझमें प्रवेश करता है उस रात्रि को अपने तेज से हरने वाले अग्नि को, प्रतिदिन समीप प्राप्त करते है, नमन करते हैं। स्पष्ट ही यह प्रार्थना पुरानी प्रार्थनाओं की तुलना में कुछ कठिन सी प्रतीत होती है।

यजुर्वेद के बाद अथर्ववेद में राजकर्म, पौरोहित्य, दान, राज्याभिषेक, आदि का वर्णन प्रगट करता है कि इस समय समाज का और भी विकास हो चुका था। इतिहास की दृष्टि से यह समय श्रीकृष्ण का है। इसी के सम सामयिक या बाद में महाभारत का युद्ध हुआ होगा, जिसमें आर्य्यों की शक्ति का ह्रास हो गया था। दर्शन का विकास इसी समय हुआ था और दूसरी ओर अभिचार, मारण, इत्यादि तथा औषधि इत्यादि का भी इस काल में वर्णन अधिकतर मिलता है। राज्यविषयक छन्द तो इस काल में बहुत ही लिखे गये थे।

सामवेद में—

अरं त इंद्र श्रवसे गमेम शूरत्वावतः।
अरं शक्र परेमणि। १। २०६।

में जहाँ इन्द्र को अपार पराक्रमी और महानशक्तिशाली कह कर स्फुरित स्वर में शरणागतवत्सल कह कर आनन्द से आह्वान किया गया है, वहाँ अथर्ववेद में ३। २६। ६ में दार्शनिक दृष्टि का बोझिलपन दिखाई देता है—

प्राची दिगग्नि राधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो
नम एभ्यो अस्तु । यो इस्मान् द्वेष्टि यंवयं
द्विष्मस्तं वो जम्भेदध्मः ।

सूर्य्य उदय हो रहा है और रक्षा की कामना करने वाला ऋषि चारों ओर आलोक देखकर आँखों में विनम्रता भर लाना चाहता है।

समस्त वैदिक काव्य आर्य्यों के महाभारत युद्ध तक का ही प्रतीत होता है।

(३) उपनिषद् और आरण्यक इस काल के बाद में बने हैं। यह वह समय है जब समाज में विभिन्न जातियों की अन्तर्भुक्ति हो रही है इस समय दास प्रथा टूटने लगती है और वर्णव्यवस्था नया रूप धारण कर रही है। तभी तपोवनों में एक ओर जहाँ आरण्यकों में पुरोहित वर्ग अपने संरक्षण के लिये कर्मकाण्ड की घोर रक्षा करता है, वर्णन और व्याख्या करता है, दूसरी ओर दर्शन का वर्द्धन होता है । ब्रह्म ऐसे स्वरूप में उपस्थित होता है कि वह जातियों की घृणा को दूर करता है। छोटे-छोटे देवताओं की सीमित सत्ता के ऊपर मन अब उठता है और नये समाज का देवता भी नये रूप धारण करता है। हम इतिहास की गहराइयों में नहीं जाकर देखते हैं कि इस काल का साहित्य उच्च वर्णों के हाथ में है और वह इतना सरस नहीं है—साम्प्रदायिक है । यह तो सत्य है कि उस समय में भी जनता में कुछ कथाओं और गीतों का प्रचलन रहा होगा, आर्य्येतर जातियों की अपनी भाषाओं में भी कुछ साहित्य लिखित या मुँह जवानी चलने वाला रहा होगा, पर वह अब मिलता नहीं। दूसरे यह भी सत्य है कि इस युग के बाद शीघ्र वह सब परम्पराएं अन्तर्भुक्ति में मिल-मिलाकर महाभारत में आकर उपस्थित हो गई हैं, जो कि एक प्रकार से, दास प्रथा के टूटते जाने के समय, जन भाषा के उत्थान के रूप में बना था। महाभारत की लौकिक संस्कृत उस समय जनभाषा ही रही होगी।

श्वेताश्वतरोपनिषद् ४. ४ में ऋषि कहते हैं—

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिता क्षस्तंडिदगर्भ
ऋतवः समुद्राः

अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्त्तसे यतो जातानि
भुवनानि विश्वा ।

और वह इस प्रकार सृष्टि के मूल कारण को लक्ष्य बना कर कहता है कि वह आनादिमत् कारण है। वह किसी सामर्थ्य से स्थित है। वही नील, हरित, रक्त आदि वर्णों के पदार्थों में स्थित है, गमनशील है, और उसी से बादल, ऋतु, समुद्र और सारे लोकों की उत्पत्ति हुई है।

इसी उपनिषद में ऋषि रुद्र से प्रार्थना करता है कि वह उसके घोड़े और खच्चरों पर दया करे। दर्शन की व्यापकता समाज के विकास के साथ, जातियों की अन्तर्भुक्ति के कारण आई है। समाज में उत्पादन प्रणाली खेतिहर ही है।

यहाँ तक का हमारा काव्य का इतिहास एक प्रकार से बर्बर अर्थात् दास-युगीन संस्कृति का वर्णन है। वह केवल उच्च वर्णों के लिये है। जैसे जैसे समाज का विकास हुआ है, काव्य की मानवीयता का भी विकास होता गया है।

महाभारत ग्रंथ का रचनाकाल वैदिककाल के ह्रास का युग है। इस समय दास प्रथा टूट रही है। इसी काल में भाग्यवाद जोर पकड़ता जा रहा है, क्योंकि उच्चवर्ण यह समझ ही नहीं पाता कि उसके अधिकार क्यों नष्ट होते चले जा रहे हैं। विभिन्न विचार जब समाज में एक दूसरे से मिल रहे हैं, तब यह समस्या नहीं रहती कि वैभिन्य कैसे रहे, वहाँ तो एकत्व की ओर प्रयत्न होता है।

हम ऊपर बता चुके हैं कि पंचम वेद की संज्ञा एक ओर महाभारत को मिली है, तो दूसरी ओर भरत के नाट्यशास्त्र को। दो-दो वस्तुओं को पाँचवाँ वेद कहना क्या प्रगट करता है? अर्थात् चारों वेदों से काम निकलना बन्द हो चुका था। वे चार सबके लिये नहीं थे। उन पर किन्हीं वर्ण विशेषों का अधिकार था। परन्तु अब जनसमाज भी अपनी संस्कृति की हिस्सेदारी चाहता था। तत्कालीन जनकथाएं, विश्वास आदि महाभारत में संकलित हुए। वे संभवतः पहले एक विद्रोह के रूप में आये जिन्होंने आरण्यकों और उपनिषदों की एकाधिपत्य सत्ता को चुनौती दी और कला संस्कृति को निम्नवर्णों के लिये

खोल दिया। कालांतर में ब्राह्मणों ने अपनी महिमा उसमें जोड़ कर उसे पूर्णतया अपने अनुकूल बना लिया।

महाभारत में काव्य विकसित हुआ। जनता में प्रचलित कथाएं साहित्य का अङ्ग बन गईं। महाभारत में यक्ष और युधिष्ठिर का संवाद स्पष्ट कहता है कि धर्म का तत्त्व कोई नहीं जानता। श्रुतियाँ भिन्न हैं। ऋषियों के मत भिन्न हैं। अतः किसी को भी आप्त नहीं माना जा सकता। यह विद्रोह का रूप नहीं है तो क्या है ? जनता के भीतर प्रचलित समस्त लोककथाएं इसमें उठीं। और महाभारत में सबसे पहले वर्णन ऐसे मिलते हैं जो पूरा चित्र खड़ा कर सकें। पहले काव्य एक साधन था। किसी यज्ञ या सामाजिक क्रिया में वह एक भाग मात्र था। अब साहित्य संस्कृति के एक विशेष अंङ्ग के रूप में प्रस्तुत हुआ। वह साधन नहीं, ज्ञान का साध्य बन गया। उसने जीवन का रसमय चित्रण किया।

महाभारत एक व्यक्ति की लिखी रचना नहीं है। वह किसी एक सम्प्रदाय की भी वस्तु नहीं है। वह एक विराट अन्तर्भुक्ति की महान कहानी है। महाभारत युद्ध के बाद आरण्यकों और उपनिषदों में घोर चिन्तन हुआ था। दास प्रथा टूट रही थी। समाज में दलित उठ रहे थे। परन्तु यूरोप की भाँति भारत में न तो उत्पादन के साधन झटके से बदले, न वर्गों का सम्बन्ध ही झटके से टूटा। अगर यहाँ झटके से संबंध टूटता तो वर्गों की प्राचीन मान्यताओं को भी कड़े झटके लगते। ऐसा नहीं हुआ। वर्णों ने उच्चवर्णों की आधिपत्य-सत्ता —वेद पर एकाधिपत्य को—चुनौती नहीं दी। उसे जैसा का तैसा स्वीकार कर लिया। बल्कि अपने लिये पंचम वेद का निर्माण किया - यहाँ हमें यह ध्यान रखना आवश्यक है कि हम जब समाज के प्रगतिशील तत्त्वों की बात करते हैं तब हमें उस उठते हुए सामन्त वर्ग को भी इसमें शामिल कर लेना होगा, क्योंकि वह भी दास प्रथा के स्वामियों के विरोध में ही था। जिस प्रकार पूंजीपति शोषक होता हुआ भी सामन्त की तुलना में, समाज शास्त्र के दृष्टिकोण से, प्रगति को लाने वाला होता है, उसी प्रकार सामन्त भी था। यहाँ हमने क्रमशः विकास और झटके के परिवर्त्तन के इस भेद से भारत और यूरोप के भेद को स्पष्ट कर दिया है।

इस नये विकास ने देवताओं के स्थान पर साहित्य में पहली बार मनुष्य का वर्णन किया और सब प्रकार के वीरों, रूपशाली धनुर्धरों के रहते, दार्शनिकों और ऋषियों के रहते हुए भी सत्यनिष्ठ मानव को ही सदेह स्वर्ग पहुंचाया और रूपक के तौर पर धर्म को सत्यवादी के पीछे चलने वाले श्वान के रूप में दिखाया। धर्म के विषय पर महाभारत में गंभीर चिन्तन है। धर्म वहाँ कोई सृष्टि की समस्या या रहस्य के हलमात्र में समाप्त नहीं हो जाता, वह तो वह मार्ग खोजता है, जिस पर मनुष्य को इस समाज में रह कर चलना है।

महाभारत ने सर्वप्रथम मनुष्य के विभिन्न वर्णों, जातियों और रिवाज़ों को साहित्य का अङ्ग बनाया। उसमें प्रकृति का स्वतन्त्र रूप स्वीकार किया गया। सारा युग, सारा अतीत, सब कुछ जो तत्कालीन समय में ज्ञातव्य था वह सरस ढङ्ग से साहित्य में उतर आया। यहाँ याद रखना चाहिये कि गौतम बुद्ध के समय में लौकिक संस्कृत जनता की भाषा नहीं रही थी। बुद्ध ने जनभाषा पालि को ही बहुजनहिताय के दृष्टिकोण से अपनाया था। पालि को अपनाने का एक कारण यह भी था कि गण के क्षत्रिय ब्राह्मणों के पुराने विरोधी थे। और संस्कृत तब तक ब्राह्मणों के अधिकार की वस्तु हो गई थी। तो महाभारत जब लौकिक यानी दुनियाँ की भाषा में मानी गई थी, यानी कि जब जनता इस भाषा को समझती थी वह समय महाभारत के काफी बाद और बुद्ध से काफी पहले रहा होगा। बुद्ध के समय में न केवल सामन्तवर्ग उठ रहा था, बल्कि मदांध, दास प्रथा के स्वार्थी रक्षक, रक्त गर्वी, क्षत्रिय गणों का ध्वंस करना चाहता था, दूसरी ओर नदियों के व्यापार से फलने फूलने वाले व्यापारी वर्ग की शक्ति भी असीम होती जा रही थी। अनाथों को पिण्ड देने वाले की संज्ञा पाने वाला अनाथ पिण्डक श्रेष्ठि ऐसा ही था, जिसकी समृद्धि और सम्पदा की असंख्य किंवदन्तियाँ पालि कथाओं में प्राप्त होती हैं। तो महाभारत जिस काल की रचना है वह गौतम बुद्ध से काफी पहले की है। जब मैं महाभारत को पुरानी रचना मानता हूँ तो यह नहीं कहता कि संपूर्ण महाभारत जिस रूप में आज है, वैसे ही तब भी था। नहीं। उसमें शताब्दियों तक क्षेपक जुड़ते रहे हैं। क्षेपकों की बात छोड़ें। मूल की रचना अवश्य ही तब

की है जब वैदिक का स्थान लौकिक भाषा ने लिया था।

लौकिक भाषा का कितना और साहित्य तब था यह तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह सब अब प्राप्त नहीं होता, पर होगा अवश्य, क्योंकि पाणिनि का व्याकरण किसी अलिखित भाषा का व्याकरण नहीं हो सकता, न भरत का नाट्यशास्त्र बिना किसी विशाल परम्परा के बन सकता है। किन्तु जो अब प्राप्य नहीं है, उसकी केवल कल्पना ही की जासकती है, उसके विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अतः अन्य आधारों के अभाव में हमें महाभारत को ही देखना पड़ता है।

जहाँ तक वस्तु वर्णन का प्रश्न है महाभारत में एक विषम समाज का वर्णन है परन्तु उसमें मुक्ति की ओर बढ़ने वाली, बन्धनों में छटपटाती हुई मनुष्य की चेतना दिखाई देती है। पहले के काव्य में कथा भाग अत्यन्त संक्षिप्त होता था। महाभारत में साधारणीकरण का सिद्धान्त अपनाया गया और कथा अर्थात् जीवन से तादात्म्य स्थापित करके काव्य को प्रस्तुत किया गया।

यद्यपि उस समय के समाजशास्त्र में आज की वैज्ञानिक प्रणाली अथवा आर्थिक दृष्टिकोण के ज्ञान की हमको कोई जानकारी नहीं मिलती, परन्तु उसमें हमें उन मूल मानवीय गुणों पर अधिक से अधिक बल देते हुए तथ्य दिखाई देते हैं जो मनुष्यत्व के मूलाधार हैं। जो मनुष्य को मनुष्य के समीप लाते हैं। वर्णों का युद्ध होता है, अर्थात् वर्गों का संघर्ष दिखाया जाता है, और विषमता का वर्णन प्राप्त होता है, परन्तु वह सब बहुत ईमानदारी से हुआ है, जैसे मनुष्य अपने लिये कल्याण का मार्ग खोज रहा हो।

महाभारत समुद्र है। उसके विषय में संक्षेप में कह देना एक अत्यन्त कठिन कार्य है। जिस प्रकार महाभारत दास प्रथा के ह्रास काल का ग्रन्थ है, उसी प्रकार बाल्मीकि रामायण जिस रूप में आज उपस्थित है, सामन्तकाल के उदय की कथा है और उसमें व्यक्ति अर्थात् पुरुष के पौरुष को भाग्य को चुनौती देते हुए दिखाया गया है, जिसमें नये समाज के आदर्श रूप की कल्पना हुई है। इस समस्त काव्य रचना के मूल में करुणा को माना गया है। करुणा में एक की दूसरे के प्रति सहानुभूति प्रकट होती है। रामायण का असली नाम 'पौल-

त्स्यबध' था। अत्याचारी के विनाश को पहले अधिक महत्त्व दिया गया था। कालान्तर में ही रामायण कह कर विजयी के महत्त्व को अधिक प्रतिपादित किया गया। रामायण में व्यक्ति के चरित्र की प्रतिष्ठापना अधिक बढ़ी। कथा वस्तु के सुगठित स्वरूप की ओर अधिक ध्यान दिया गया। रामायण का सबसे बड़ा गुण उसकी सरलता है, जिसे समझना अत्यन्त सरल है और उसमें यह भी एक महान गुण है कि वह प्रत्येक आयु के व्यक्ति के लिये कुछ न कुछ दिलचस्पी रखती है। यहाँ शम्बूक की कथा तथा रामायण के अन्य विषयों में जाना विषयान्तर करना होगा।

अस्तु। हमने देखा कि धीरे-धीरे काव्य ने कितने स्वरूप बदले और किस प्रकार उसका निरन्तर विकास होता गया। काव्य परिवर्तनशील रहा है और समाज की परिस्थितियों ने उसकी परिवर्तनशीलता की आधारभूमि प्रस्तुत की है, इसे किसी प्रकार से भी अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। यहाँ हम यह स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि केवल आर्थिक कारण परिवर्त्तन प्रस्तुत नहीं करते। समाज केवल अर्थ ही नहीं होता वह उसके अतिरिक्त कई अन्य तत्त्व भी धारण करता है, जिनका भी निरन्तर अधिक या कम प्रभाव पड़ता रहता है। परन्तु क्योंकि हिन्दी में अभी विद्वानों ने इस क्षेत्र में काम नहीं किया है, इसलिये हमने इस पक्ष को उभार कर रखा है। किसीको भी यह नहीं समझना चाहिए कि यही काफी है। विद्वानों के लिये यह एक पक्ष तो इसलिये रखा गया है कि वे इसे स्वीकार नहीं करते। वे काव्य के सिद्धांतों को उनके संदर्भ से अलग करके उनकी व्याख्या करते है, जो कि ठीक नहीं है। संदर्भ से अलग हो जाने पर वस्तु का कोई भी अर्थ लगाया जा सकता है। हमारे देश की परम्परा में मानवीयता अपने आप अकस्मात् उदय नहीं हुई, वह पीढ़ियों की संवेदनात्मकता से ही जन्म ले सकी थी, जिसमें मनुष्य का मनुष्य के प्रति प्रेम था। यह बात और है कि उस मानवतावाद ने वर्ग समन्वय की ही प्रतिष्ठापना की। वह उस युग की अपनी ही सीमा थी, उसे आज से नहीं, उसके पुराने युग विशेष से तुलना करके देखना ही उचित होगा।

इस प्रकार की तुलना ही हमारे लिये लाभदायक है क्योंकि हम इतिहास की उल्टी व्याख्या नहीं करेंगे, बल्कि विकास क्रम को देख सकेंगे।

अब यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जब हम काव्य के भौतिकवादी आधार देखते हैं, तब हम उसके अन्य तत्त्वों की कोई अवहेलना नहीं करते। बल्कि इन गुणों को समझने की आधारभूमि बना लेते हैं। निस्संदेह रामायण और महाभारत की यौन विषयों की अभिव्यक्तियाँ ऐसी नहीं हैं जो आज भी प्रयुक्त की जा सकती हों, यह तो कोई भी देखकर ही कह सकता है। परन्तु आज के समाज की मर्यादा वही नहीं है, जो उनके युगों की मर्यादा थी इसीलिये उनका अध्ययन करते समय हमें उनके संदर्भ को देखना आवश्यक है

तो, हमने देखा कि काव्य के विषय की जहाँ कोई सीमा नहीं है, वहाँ जहाँ एक ओर उसकी यह सीमा है कि वह सरस हो और भाव से सम्बन्ध रखता हो, तो दूसरी ओर उसकी अपनी एक भौतिकवादी आधारों की भी सीमा है। यह आधार सामाजिक जीवन का आधार है। हम रीतिकालीन कविता के समय में यह कभी आशा नहीं कर सकते कि उस समय कोई रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसा कवि हो सकता था। व्यक्ति की कैसी भी महानता हो, वह अपनी विशेष परिधियों को लाँघने में असमर्थ होता है। जब तक समाज की चेतना में परिवर्तन आना प्रारम्भ नहीं होता, तब तक कवि की चेतना भी नहीं बदल सकती है।

महाभारत और रामायण के साथ ही उस समय बौद्ध और जैन भी अपने ग्रन्थ रच रहे थे। जैनों ने अपने दृष्टिकोण से यद्यपि साम्प्रदायिक पथ पकड़ा किन्तु वे जीवन की व्यापकता को लेकर चले। बौद्ध काव्य जो जातकों (तथा त्रिपिटक) में प्रकट में हुआ वह नितान्त साम्प्रदायिक रहा और उपदेशात्मक ही रहा, जिसमें काव्य की सरसता नहीं आ सकी। जीवन को दुखमय मानने के दृष्टिकोण ने वैविध्य के स्वस्थ रूप को उस चिन्तन से छीन लिया क्योंकि उसकी नींव एक अभाव पर रखी गई, जिसे उसके प्रवर्तक ने ही स्पष्ट रूप से नहीं समझा था। कव्य के दृष्टिकोण से संप्रदायों के साहित्य हमें विकास के पथ पर नहीं ले जाते, जब कि महाभारत ले जाता है। उसमें एक सम्प्रदाय की बात नहीं हैं, अनेक संप्रदाय अन्तर्भुक्त हुए हैं। अतः उसमें सङ्कीर्णता नहीं है, एक व्यापकत्व है, जो जीवन की विविधता को लेकर चलता है। वह अन्य सांप्रदायिक ग्रन्थों की भाँति एक लीक पर चलने के लिये बाध्य नहीं है, क्यों

कि उसके पीछे जीवन का आनन्द पाने का दर्शन है।

महाभारत में लगभग १००० उपाख्यान ऐसे हैं जो कि मूल कथा में गूँथ दिये गये हैं। बाल्मीकि रामायण में ऐसे उपाख्यान लगभग १०० हैं। यही कारण है कि महाभारत रामायण से विशालकाय है। रामायण की अन्तर्कथाएँ न तो इतने विस्तार से वर्णित हैं न अपने आप में पूर्ण ही है। महाभारत में ऐसा नहीं है। उसमें तो काव्य के भीतर भी स्वतंत्र और अत्यन्त सुन्दर काव्य है। नल दमयन्ती ऐसा ही काव्य है। उसमें वातावरण सृजन करने की अद्भुत शक्ति है।

वनपर्व ६४ अध्याय में वृहदश्व कहते हैं: कमल नयनी दमयन्ती उस शिकारी को इस तरह नष्ट करके झींगुरों की झनकार से गूँजते हुए वन में अकेली भटकने लगी। भयानक आकार के सैकड़ों जंगली जीव उस वन में थे। कहीं पर सिंह, बाघ, भैंसे, भालू, चीते, हाथी रुरू और आम अनेक प्रकार के मृगों के झुण्ड विचर रहे थे। कहीं पर अनेक प्रकार के पक्षी वृक्षों की डालियों पर बैठे थे। कहीं पर म्लेच्छ जाति के दस्यु दल बाँधे हुए रहते थे। बीच बीच में अनेक प्रकार के वृक्ष थे। एक ओर शाल, धव, ताल, तमाल, आम, प्रियाल, वेतस, बेल, पद्मक, आँवला, पाकर, थूलर आदि बड़े बड़े वृक्ष खड़े थे। दूसरी ओर बाँस, पीपल, तेंदू, इंगुद, ढाक, अर्जुन, अरिष्ट स्पन्दन, शाल्मली, बेर, जामुन, लोध्र, खैर, बरगद, खजूर, हड़, बहेड़ा आदि के वृक्ष थे। कहीं पर पर्वत माला थी, जो गेरू आदि अनेक पहाड़ी धातुओं से विचित्र रङ्गों वाली हो रही थी। कहीं पर लताओं से घिरे हुए मनोहर कुञ्ज थे। कहीं पर वन में पक्षी मधुर शब्द कर रहे थे। कहीं पर वापी, सरोवर और झरने थे। कहीं कहीं भयानक रूप वाले पिशाच, नाग और राक्षस थे। कहीं कहीं पर कन्दराएँ थीं। कहीं पर नदी बहती थी। कहीं पर भैंसे, जङ्गली सुअर भालू और साँप इधर उधर घूम रहे थे। पति के वियोग से व्यथित दमयन्ती ऐसे भयानक वन में भी अकेली निडर होकर इधर उधर पति को खोज रही थी।

यह वेदना आगे तो बड़ा दारुण चित्र उपस्थित करती है। वह जाकर विकराल सिंह से बात करती है—

हे मृगराज ! तुम इस वन में बसने वाले पशुओं के राजा हो। मैं विदर्भ-राज राजा भीम की बेटी हूँ। निषध देश के राजा नल मेरे स्वामी हैं। मेरा नाम दमयन्ती है। इस समय पति के वियोग के शोक से व्याकुल होकर मैं उन्हीं को खोज रही हूँ। किन्तु उनके दर्शन नहीं पाती।

तुमने जो महात्मा नल को कहीं देखा हो तो खबर देकर मेरे प्राण बचाओ और नहीं तो मुझे निगल कर मेरे सन्ताप को दूर कर दो।

परन्तु सिंह दूसरी तरफ चला जाता है। तब तो दमयन्ती पगली सी हो जाती है। वह सब, प्रकृति के कण कण, से विलाप करती घूमती है।

आगे १४६ वें अध्याय में जब भीम, द्रोपदी के लिए सहस्रदल कमल ढूँढ़ने जाता है तब कवि ने वन का बहुत सुन्दर वर्णन किया है—(२० से) भीमसेन ने देखा, वह पर्वत सुनहरे, श्वेत और काले रङ्ग की धातुओं से लिया हुआ सा है। दोनों ओर मेघों के मंडराते रहने से जान पड़ता है मानों वह पर्वत पङ्ख फैलाये नाच रहा है। झरनों के गिरने से जो जल कण उड़ रहे हैं वे मोतियों के हार की तरह उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं, चारों ओर रमणीय गुफा, कुञ्ज, झरने और बड़ी बड़ी कन्दरायें देख पड़ रही हैं। टहलती हुई अप्सराओं के नूपुरों का शब्द सुनकर मोर उसे बादलों का शब्द समझते हुए खुशी से नाच रहे हैं। वहाँ के शिखर और शिलाएं जगह जगह पर गजराजों के दाँतों की रगड़ से घिस गईं हैं। बढ़ी हुई नदियों का जल इधर उधर फैला हुआ उस पर्वत के शिथिल वस्त्र की तरह शोभा दे रहा है।······भीमसेन रमणीय गंधमादन के शिखरों पर घूमने लगे।

रामायण के वर्णन और अधिक गठे हुए तथा परिमार्जित हैं। उनमें यद्यपि वह मुक्त प्रवाह नहीं है जो महाभारत में है, पर उनमें गढ़न अधिक है। दोनों अपनी जगह पर अपना विशेष महत्त्व रखते हैं।

इन ग्रन्थों के बाद संस्कृत का काव्य साहित्य मिलता है। कालिदास, भास आदि से लेकर श्रीहर्ष तक काव्य के रूपों में भिन्नत्व आया है। धीरे-धीरे काव्य अलंकार प्रधान होता गया है। बाण का काव्य 'कादम्बरी' तो अत्यन्त भारी है। एक एक पंक्ति में लगातार अन्त तक चार चार अर्थ निकलते चले आते हैं। यह कोई सहज काम नहीं हैं। किंतु इसमें चमत्कार बाहुल्य की

प्रधानता हैं, इसमें वह सहज मस्ती नहीं है, जो पुराने ग्रन्थों में मिलती है। कालिदास की महत्ता इसी में रही है कि वह जहाँ अत्यन्त परिमार्जित रूप में अपने काव्य को प्रस्तुत करता है, वहाँ उसकी प्रतिभा उसकी विद्या के लिये किसी भी शास्त्र की बैसाखी नहीं ढूंढ़ती। वह स्वमेव सुन्दर है।

जहाँ तक वस्तु विषय का वर्णन करने का प्रश्न है, इन काव्यों ने जीवन के उस वैविध्य का स्पर्श नहीं किया, जो बाल्मीकि के काव्य में प्राप्त होता है। यद्यपि यह दरबारी काव्य था, किंतु प्रारम्भ में इसकी व्यापकता अधिक थी, धीरे धीरे वह लुप्त होती गई और परवर्त्ती संस्कृत साहित्य तो केवल दरबारों की चहार दीवारों में घिर गया। उसमें ही फिर स्त्री वर्णन प्रारम्भ हुआ। निश्चय ही उस समय जनकाव्य अपने दूसरे रूपों में अवस्थित था। इसका प्रमाण है कि जनभाषाओं ने धीरे धीरे विकास किया है और अपभ्रंश का साहित्य लगातार बढ़ता चला गया है। जनभाषा का स्रोत पहले ही राजा हाल के हाथों में पलती कविता में मिलता है। फिर राजा भोज के दरबार में तो दोनों भाषाओं की कविता मिलती है, संस्कृत भी और देश भाषा भी।

इस प्रकार काव्य के बदलते रूपों का आधार समाज की बदलती परिस्थितियों में प्राप्त होता है। अब इस विषय को विस्तार से देखना अधिक आवश्यक नहीं है। काव्य के सिद्धान्त काव्य के बदलते रूपों के अनुसार ही नये नये रूप धारण करते रहे हैं। काव्य जितना ही दरबारी होता गया, जनसमाज से संपर्क टूटता गया। भाषा, रीति, अलङ्कार तथा नये नये परिधानों में उसे ढँकने की चेष्टा की गई। किंतु सामंतीय समाज का गतिरोध, ह्रासकाल, उस प्रगति को नहीं झुंठला सका जो रस सम्प्रदाय के रूप में साधारणी करण की मूल भूमि बनकर उपस्थित हुई थी।

परवर्त्ती संस्कृत दरबारी काव्य के युग में नाटकों का ह्रास दिखाई देता है। नाटक का दर्जा पहले श्रव्य काव्य से कम नहीं माना जाता था। बाद में उनकी ओर से रुचि कम होने का कारण यह भी था कि नाटक केवल रस के आधार पर ही चल सकता था, उसमें अलंकार, रीति, ध्वनि आदि संप्रदायों की अधिक गुंजायश नहीं थी। विद्वानों ने इस तथ्य की ओर दृष्टिपात नहीं किया है।

ऐसे ऐसे अश्लील श्लोक मिलते हैं, कि परवर्त्ती रीतिकाल ने तो अश्लीलता में संस्कृत भाषा से ही दीक्षा ली थी। आज के दृष्टिकोण से वह सब अश्लील लगता है, परन्तु धार्मिक रूप से उसकी उस काल में वाममार्ग के माध्यम से की हुई व्याख्या भी मिलती है। हम अन्यत्र इस विषय पर विस्तार से लिख चुके हैं।*

समाज का गतिरोध ही इसका मूल कारण था, जो एक ओर विलास और दूसरी ओर योग मार्ग के चमत्कार वाद की ओर आकर्षित कर रहा था। समाज में जब उत्पादन के साधन नहीं बदलते तब ऐसी जिच का पैदा हो जाना निताँत स्वाभाविक है।

व्यक्ति के समस्त साधन जब उसे किसी शांति की ओर ले जाते हैं तब उसका एकांतिक हो जाना, कोई आश्चर्य्य जनक बात नहीं है। यही संस्कृत साहित्य की विशाल परम्परा में भी हुआ। धर्म ने साहित्य के दरबारी स्वरूप के सामने समर्पण नहीं किया, उसने अपना रूप अलग भी जीवित रखा और जब जब उसको अवसर प्राप्त हुआ उसने अपने महत्व को प्रतिपादित भी किया।

वैदिक संस्कृत में ही प्रार्थना परक काव्य प्राप्त होता है। पहले के देवता या तो वीर हैं, रक्षक हैं, या फिर प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक हैं। वेद में उषा की स्तुति ऐसी ही प्रकृति देवी की प्रार्थना है। किन्तु उपनिषद् काल की प्रार्थना दार्शनिकता प्रधान है।

प्रार्थना परक काव्य मूलतः परवर्त्ती साहित्य में ही मिलता है। यद्यपि यह प्रार्थनाएँ संप्रदाय परक हैं किन्तु इनमें मन को अपनी ओर खींचने की शक्ति है। यदि निष्पक्ष रूप से अपने पूर्वाग्रह छोड़कर देखा जाय तो ज्ञात होता है कि इनमें अच्छी लगने वाली वस्तु है कल्याण भावना की महती कामना जो जीवन को सुफल देने के लिये बलवती होती हुई प्रगट होती है।

तंत्रों में तो प्रार्थनाओं के ढेर हैं। प्रार्थनाओं के साथ ध्यान मंत्र विशेष आकर्षक हैं।

---

* देखिये—लेखक कृत 'गोरखनाथ'

महाकाल संहिता में सिद्धान्त संग्रह में शक्ति का वर्णन अत्यन्त सुन्दर है—

उद्यच्चन्द्रोदय क्षुब्ध रक्त पीयूष वारिधेः ।
मध्ये हेममयी भूमी रत्नमाणिक्य मण्डिता ॥
तन्मध्ये नन्दनोद्यानं मदनोन्मादनं महत् ।
नित्याभ्युदितपूर्णेन्दु ज्योत्स्ना जाल विराजितम् ॥
सदा सह वसन्ते कामदेवेन रक्षितम् ।
कदम्ब चूत पुन्नाग नाग केशर चम्पकैः ॥
वकुलैः पारिजातैश्च सर्वर्त्त कुसुमोज्ज्वलैः ।
झंकार मुखरैर्भृङ्गैः कूजद्भिः कोकिलैः शुकै ः ॥

इस प्रकार सुन्दर वातावरण का वर्णन करते हुए कवि नन्दन उद्यान और सदा रहने वाले बसन्त की उपस्थिति में प्रकृति का मनोहर चित्र उपस्थित करता है और अपने देवता की कल्पना में एक विशेष रूप प्रस्तुत करने के लिये एक विशेष भूमि पहले ही बना लेता है । आगे कहता है—

त्रिपुरां सुन्दरी देवीं बालार्क किरणारुणाम् ।
जपा कुसुम संकाशां दाडिमी कुसुमोपमाम्
पद्मराग प्रतीकाशां कुङ्कुमारुणसन्निभाम् ॥
स्फुरन्मुकुट माणिक्य किङ्किणी जाल मण्डिताम् ॥

वह त्रिपुरा नये सूर्य्य की प्रभा के समान अरुण वर्णा है और कवि तन्मय होकर उसके रूप का वर्णन करता है । अलिकुल के समान अलक, अम्भोज का सा बदन, अर्द्ध चन्द्र के समान सुन्दर मस्तक, धनुषाकार भ्रू, लीला दोलित लोचन, चमकते हेम कुण्डल, आदि का वह विभोर होकर वर्णन करता है । इसी को वह—

जगदाह्लादजननीं जगद्रञ्जनकारिणीम्

भी कहता है । आह्लादमयी जगत् का रञ्जन करने वाली जननी के रूप को प्रतिष्ठापित करके वह अपने संकोचों को मिटा देता है ।

दुर्गार्चनसृति में जब कवि कहता है—

रूपं देहि जयं देहि
यशो देहि द्विषो जहि।

तब वहाँ किसी भी व्यक्ति की नम्रता अपने आप जाग्रत हो उठती है। प्रार्थना अपने प्राचीन रूप में जितनी मुखर रूप से भौतिक वस्तुओं के प्रति थी उतनी ही परवर्त्ती काल में उसमें परिष्कृति दिखाई देती है। वैदिक ऋषि 'मैं' न कहकर 'हम' कहता था और धन आदि माँगता था, तथा कवि समाज में वैयक्तिकता भरी प्रार्थना करता था, ताकि उसे यश मिले, रूप मिले, जय मिले। यह समाज के विभिन्न रूपों के प्रभाव का ही फल है।

प्रार्थना ईश्वर परक से कालान्तर में व्यक्तिपरक हुई और यह सामन्तीय जीवन में कवि की निम्न परिस्थिति का परिचायक हो गया। पुराने कवियों का वर्णन मिलता है कि वे तपोवनों में रहते थे, राजा उनके सामने सिर झुकाते थे। किन्तु कालान्तर में हमें ऐसे कवियों का वर्णन मिलता है जो राजा के यहाँ पलते थे। यह सच है कि वे अपने सम्मान को जाग्रत रखते थे, राजा उनका सम्मान करता था, परन्तु अन्ततोगत्वा वे आश्रित ही थे और राजा पर ही अवलम्बित थे। ठीक ऐसे समय में तपोवन वाली कवि परम्परा भी थी और वह सन्तों और भक्तों के रूप में थी। उसका जनता से सम्बन्ध था। हम यह नहीं कहते कि इन सन्तों में जनवाद का आधुनिक रूप था। परन्तु यह वे लोग थे जो जनता का पक्ष लेते थे। वर्ग संघर्ष का आधुनिक रूप तो हो ही नहीं सकता था, क्योंकि आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन नहीं हो रहा था, परन्तु धीरे-धीरे उच्च वर्गों से जो भी सहूलियत मिल पाती थी वह इन्हीं सन्तों के प्रचार के कारण मिलती थी।

इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि जब मनुष्य ने समाज में रहना स्वीकार किया तो उसका मूल कारण आत्मरक्षा था, जो जनहित के रूप में ही प्रकट हो सका था। कुछ लोग जो जनहित को स्वार्थ में डुबाते थे, उनका यही लोग विरोध करते थे जो जनहित को अपने स्वार्थों से ऊपर रखते थे। भारतीय जीवन की अभौतिक आस्था, यद्यपि वैयक्तिक अभावों के प्रति श्रद्धास्पद रही है परन्तु उसने जन-जीवन से जो सम्मान पाया है उसका कारण यही रहा है।

जब कि प्रार्थना अपने सामाजिक पक्ष में न्याय के लिये होने वाली मंगल

कामना थी, ईश्वर के रूप में वह उस कामना को एक मूर्त रूप देती थी। वहाँ दर्शन के उस मूल की कल्पना को साकार किया जाता था, जिससे 'समस्त' की —'समूह' और 'व्यक्ति',—दोनों के रूप में—व्याख्या की जाती थी। विद्या के सार्वमाङ्गलिक स्वरूप भी इसी में अन्तर्निहित थे। तभी कवि सरस्वती की वन्दना करते हुए कहता है—

> मातस्त्वदीयपदपङ्कज भक्ति मुक्ता
> ये त्वां भजन्त निखिलानपरान्विहाय,
> ते निर्जरत्वमिह यान्ति कलेवरेण
> भूवन्हि वायुगगनाम्बुविनिर्मितेन !
> मोहान्धकार भरिते हृदये मदीये
> मातः सदैव कुरु वासमुदारभावे
> स्वीयाखिलावयवनिर्मलसुप्रभामि
> शीघ्रं विनाशय मनोगतमन्धकारम्।

अर्थात् तुम्हारी भक्ति से मनुष्य देवता बन जाते है। हे उदार बुद्धि वाली जननी! अन्धकार का नाश करो।

यहीं यह भी कह देना युक्ति संगत होगा कि भारतीय चिंतन में लक्ष्मी सरस्वती का बैर दिखाया गया है। दक्षिण भारत में इसकी कथाएँ भी चलती हैं। उत्तर में भी उसका प्रभाव पड़ा है। यह बैर क्यों है? परम्परा में लक्ष्मी और सरस्वती एक साथ ही दिखाई गई हैं। इससे प्रकट होता है कि पहले बुद्धि और सम्पदा को एक माना गया है। कालान्तर में जब धन का प्रभुत्व समाज में बढ़ा है तब सरस्वती तो नीरक्षीर विवेकी हंस पर बैठी और लक्ष्मी को उल्लू पर बैठा हुआ माना गया है। यह तो निश्चित नहीं कहा जा सकता कि प्रारम्भ में यह देवियाँ किन जातियों के टाटेम के एक दूसरे के पास आ जाने से बनीं, किन्तु बाद में ये शक्ति के विभिन्न रूपों के रूप में ही स्वीकृत की गईं और उनके साथ गुणों की व्याख्या भी की गई।

लक्ष्मी और सरस्वती का यह बैर समाज की आर्थिक व्यवस्था का ही प्रतीक है। भारतीय चिन्तन ने कभी लक्ष्मी को सरस्वती से अधिक स्थान नहीं दिया

न लक्ष्मी को ही हेय समझा। ज्ञान और मनुष्य की समृद्धि दोनों ही लोक-जीवन में प्रतिष्ठित रही।

इस प्रकार की प्रार्थनाओं में ही भगवान के दीनबन्धुस्वरूप को प्रधानता दी गई।

दीनबन्धु ही मूल है। उसी परमात्मा से यह ब्रह्मा, आदिरूप जगत प्रकट होता है और सम्पूर्ण जगत के कारणभूत जिस परमेश्वर में यह समस्त संसार स्थित है तथा अन्तकाल में यह समस्त जगत जिनमें लीन हो जाता है—वे दीन-बन्धु भगवान हैं। उनके ही दर्शनों की कवि कामना करता है।

यस्मादिदं जगदुदेति चतुर्मुखाद्यं
यस्मिन्नवस्थित मशेष मशेषमूले।
यत्रोपयाति विलयं च समस्तमन्ते
दृग्गोचरो भवतु मेऽद्य स दीनबन्धुः।

उन्होंने ही जल में डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार किया था और नग्न की जाती हुई पाण्डववधू को वस्त्रों से ढँक दिया था, तथा ग्राह के मुख से गजराज को बचा लिया था।

येनोद्धृता वसुमती सलिले निमग्ना
नग्ना च पाण्डववधूः स्थगिता दुकूलैः
संमोचितो जलचरस्य मुखाद्गजेन्द्रो—

भगवान के नाम पर ही समस्त जातियों को समानता का अधिकार मिलता है। चाण्डाल भी विष्णु के मन्दिर में जा सकते हैं।

हमारे देश में प्राचीन वैदिक काव्य में अवश्य वरुण देवता का रूप ऐसा वर्णित किया जाता है कि वह भयभीत करने वाला है। परन्तु यहूदियों की सी परम्परा हमारे यहाँ नहीं रही है कि देवता से डरा जाये। हमारे यहाँ तो देवता को अपनाने की परम्परा है। यही परम्परा यहाँ के आर्यों की एक शाखा के रूप में ईरान और इराक से चले लोगों के साथ गई थी जो बाद में ग्रीक कहलाये। अवश्य उस समय ईरान और इराक के नाम से वह भू-प्रदेश प्रसिद्ध नहीं था।

भारतीय देवता सदैव जन-जीवन को कल्याण-गरिमा देते रहे हैं और इसी लिये अपना स्वरूप भी विकास के रूप में करते रहे हैं। हमारे देवता एक दूसरे से मित्रता स्थापित करते हैं और मनुष्य के लिये अवतार भी लेते हैं। काव्य उनके इन रूपों को प्रदर्शित करता है।

प्रार्थना परक काव्य का अध्ययन इसीलिये अत्यन्त आवश्यक है कि वह हमें समाज विकास के साथ बदलती हमारी ईश्वर कल्पना को प्रदर्शित करता है और हम उसी एक्यभाव के मूल को प्राप्त करते हैं, जो केवल मानवीयता के आधार तत्त्व को प्रगट करता है। धर्म उसका अपने ही ढङ्ग से प्रदर्शन करता है। वह ढङ्ग प्राचीन समाज और मध्यकालीन व्यवस्था की अपनी युग सीमा से सापेक्ष्य था, हमें उसकी नयी व्याख्या ही लाभदायक सिद्ध हो सकती है।

तन्त्रों में सम्वाद शैली है। ठीक इस समय भी पुरानी पुराणों की परंपरा चल रही थी, जिसका रूप श्रीमद्भागवत में प्रगट हुआ। यही परम्परा ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठापना करते समय तुलसीदास में भी प्रगट हुई थी, क्योंकि हिन्दी के एकमात्र इसी कवि ने इस पद्धति को अपनाया था क्योंकि जीवन का जो सांगोपांग चित्रण, वर्णन की यह पद्धति करती है, वह महाकाव्य के आकार प्रकार में नहीं हो पाती। हिन्दी साहित्य की एक विचारधारा पर भागवत का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। भागवत अपने प्रारंभ में ही बताती है कि वह उस समय लिखी गई थी जब कि अधर्म के सहायक कलियुग ने पृथ्वी को पीड़ित कर रखा था। जब यहाँ सत्य, तप, शौच, दया, दान आदि कुछ भी बाकी नहीं रहा था। बेचारे जीव केवल अपना पेट पालने में लगे हुए थे। असत्य-भाषी, आलसी, मन्द मुद्धि, और भाग्यहीन होगये थे। उन्हें तरह-तरह की विपत्तियाँ घेरे रहती थीं। जो साधुसन्त कहे जाते थे, वे पूरे पाषण्डी होगये थे। घरों में स्त्रियों का राज्य था, पैसे के लोभ से निर्दोष कन्याएँ बेची जाती थीं और स्त्री पुरुषों में कलह मचा रहता था। महात्माओं के आश्रम, तीर्थ और नदियों पर विधर्मियों का अधिकार हो गया था, और उन दुष्टों ने बहुत से देवालय भी नष्ट कर दिये थे। सभी देशवासी बाजारों में अन्न बेचने लगे थे। ब्राह्मण लोग पैसा लेकर वेद पढ़ाते थे और स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति से निर्वाह करने लगी थीं। (स्कंध १ अध्याय १—३०-३६)

इस वर्णन में ही भागवत के चिन्तन की पृष्ठभूमि के समाज का चित्रण मिलता है। व्यवस्था इतनी जटिल थी कि पुराने आदर्श गिर रहे थे। राजनैतिक रूप से देश में शान्ति नहीं थी। समाज पर रूढ़ धार्मिकों का शासन था। सामाजिक जीवन की नैतिकता डाँवाडोल थी। धर्म पर आघात हो रहा था। अन्न पहले संभवतः बाजारों में नहीं बिकता था। बाजार में अन्न के बिकने का अर्थ है कि पुरानी आर्थिक व्यवस्था में परिवर्त्तन आरहा था। व्यापार के सन्तुलन फिर बदल रहे थे। जहाँ पहले आदान प्रदान सामग्रियों से होता था, (बारटर) वहाँ मुद्रा का प्रसार बढ़ने लगा था। यह दिखाता है कि सामन्तीय जीवन अपने ह्रासकाल में व्यापार के नये विकासों में दुगने भार से पीड़ित हो रहा था। उच्च वर्णों के अधिकार भी उस मुद्राप्रसार के अधिकार में आ गये थे। ऐसे समय में भागवत लिखा गया था। उस समय मुद्राचलन के प्रभाव का अर्थ यह नहीं था कि आदान प्रदान से साम्रगी विनिमय समाप्त हो गया था। वह तो गाँवों में अभी तक प्रचलित है। उस समय अवश्य किसी रूप में उसे किसी सीमा तक आघात लगा था और बाजार में नये रूप ने अपना प्रभाव डाला था, जिसने पुरानी व्यवस्था को धक्का पहुँचाया था।

भागवत ने सभी वर्णों को भक्ति का अधिकार खुल कर दिया और देवता के लोकरंजक रूप को प्रेम से प्लावित करके उपस्थित किया। रसमाधुरी बरसने लगी। भागवत ने ही प्रेम मार्ग को इतना महत्त्व दिया जितना भारतीय चिंतन में पहले प्राप्त नहीं होता था। भक्ति का यह रास्ता एक लम्बी परम्परा का समन्वय था। तभी कहा है : मनुष्य को चाहिये कि वैराग्य के शस्त्र से शरीर और उससे संबंध रखने वाली ममता को काट डाले, धैर्य्य के साथ घर से निकल कर पवित्र तीर्थ के जल में स्नान करे और पवित्र तथा एकान्त स्थान में विधि पूर्वक आसन लगाकर बैठ जाय। तत्पश्चात् परम पवित्र 'अउम्' इन तीन मात्राओं से मुक्त प्रणव का मन ही मन जप करे। प्राणवायु को वश में करके मन का दमन करे और एक क्षण के लिये भी प्रणव को न भूले। मन यदि कर्म की वासनाओं से चंचल हो उठे तो उसे विचार के द्वारा रोक कर, भगवान् के रूप में लगाये, स्थिर चित्त से भगवान् के श्री विग्रह में से किसी

एक अङ्ग का ध्यान करे। इस प्रकार एक-एक अङ्ग का ध्यान करते-करते विषय वासना से रहित मन को पूर्ण रूप से भगवान् में ऐसा तल्लीन करदे कि फिर और किसी विषय का चिंतन ही न हो। ··· धारणा स्थिर हो जाने पर ध्यान में जब योगी अपने परम मङ्गलमय आश्रय को देखता है तब उसे तुरन्त ही भक्तियोग की प्राप्ति हो जाती है। (द्वितीय स्कंध, अध्याय २. १५-२१)

वेद और गीता दोनों में ही विराट पुरुष के वर्णन हैं। किन्तु भागवत के विराट पुरुष का वर्णन उनसे भिन्न है, जो इस प्रकार है—

यह समस्त विश्व जो कुछ कभी था, है या होगा, सब का सब जिसमें दीख पड़ता है, वह विराट समष्टि ही भगवान का स्थूल से स्थूल और विशेष शरीर है। जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहङ्कार, महत्तत्त्व और प्रकृति इन सात आवरणों से घिरे हुए इस ब्रह्माण्ड शरीर में जो विराट पुरुष भगवान् हैं, वही धारणा के आश्रय हैं।

पाताल विराट् पुरुष के तलवे हैं। उसकी एड़ियाँ और पंजे रसातल हैं।

दोनों गुल्फ महातल हैं।
उनके पैर के पिण्डे तलातल हैं।
घुटने सुतल हैं।
जांघें वितल और अतल हैं।
पेड़ू भूतल हैं।
उनके नाभिरूप सरोवर को ही आकाश कहते हैं।
छाती स्वर्लोक है।
गला महर्लोक है।
मुख जन लोक है।
तथा ललाट तपोलोक है।
वे सहस्रशीर्ष हैं और वही उनका ऐसा सिर सत्यलोक है।
इन्द्रादि देवता उनकी भुजाएं हैं।
दिशाएं कान और शब्द श्रवणेन्द्रिय हैं।
अश्विनीकुमार उनकी नासिका के छिद्र हैं।

गंध घ्राणेन्द्रिय है ।

धधकती हुई आग उनका मुख है ।

उनके नेत्र अन्तरिक्ष हैं, देखने की शक्ति सूर्य्य है, दोनों पलकें रात और दिन हैं, उनका भ्रूविलास ब्रह्मलोक है ।

जल तालु है और रस उनकी जिह्वा है ।

वेद उनका मस्तक है और यम दाढ़ें हैं ।

सब प्रकार के स्नेह दाँत हैं और उनकी जगन्मोहिनी माया ही उनकी मुस्कान है ।

यह अनन्त सृष्टि उसी माया का कटाक्ष-विक्षेप है ।

लज्जा ऊपर का होंठ और लोभ नीचे का होंठ है ।

धर्मस्तन और अधर्म पीठ है ।

प्रजापति उनकी मूत्रेन्द्रिय हैं ।

मित्रावरुण अण्डकोश हैं ।

समुद्र कोख है ।

बड़े बड़े पर्वत उनकी हड्डियाँ हैं ।

विश्वमूर्त्ति विराट पुरुष की नाड़ियाँ यह नदियाँ हैं । वृक्ष रोम हैं । परम प्रबल वायु श्वास है । काल उनकी चाल है और गुणों का चक्कर चलाते रहना ही उनकी क्रीड़ा है ।

बादल उनके केश हैं । संध्या वस्त्र है । अव्यक्त ही उनका हृदय है । सब विकारों का खजाना उनका मन चन्द्रमा कहा गया है । महत्तत्त्व उनका चित्त है । रुद्र उनके अहङ्कार हैं ।

घोड़े, खच्चर, ऊँट और हाथी उनके नख हैं । वन में रहने वाले सभी पशु उनकी कमर हैं । तरह-तरह के पशु-पक्षी उनके कलाकौशल हैं । स्वायम्भुव-मनु उनकी बुद्धि हैं और मनु की सन्तान मनुष्य उनके निवास स्थान हैं ।

गंधर्व विद्याधर, चारण और अप्सराएं उनके स्वर एवं स्मृति शक्ति हैं । दैत्य उनके वीर्य्य हैं । ब्राह्मण मुख, क्षत्रिय भुजाएं, वैश्य जंघाएं और शूद्र चरण हैं ।

विविध देवताओं के नाम से जो बड़े बड़े यज्ञ किये गये हैं, वे उनके कर्म हैं। (द्वितीय स्कंध अध्याय ३. २३—३६)

प्रस्तुत वर्णन न वेद के वर्णन की सी सृजनात्मक भावना लिये है, न गीता के विराट पुरुष की ध्वंस छाया। इस वर्णन में पहले मुख भुजा आदि अन्य वस्तुएँ हैं और बाद में परम्परा के रूप में चातुवर्ण्य को भी रख दिया गया है। इससे इङ्गित होता है इस वर्णन में चातुर्वण्य के महत्व प्रतिपादन पर बल नहीं दिया गया। दूसरे यह वर्णन एक व्यापकता का इङ्गित भर करता है। समाज विकास की दृष्टि से हमें किसी नवीन दृष्टिकोण की ओर नहीं ले जाता। हाँ यह अवश्य प्रगट करता है पुरानी धारणाओं के प्रति परिवर्त्तन अवश्य हो गया था।

हमारी संस्कृति इस बात का साक्ष्य प्रदान करती है कि जब समाज कोई नया रूप धारण करता है, तब पहले उस परिवर्त्तन के अनुरूप ही पुरानी परम्परा को नया रूप देकर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता है।

साहित्य उस नये रूप से प्रत्येक युग में प्रभावित हुआ करता है।

हमने संस्कृत की उस परम्परा की शृङ्खला को जोड़ा है जिस पर विद्वान् अभी तक ध्यान नहीं देते।

हिन्दी काव्य को यह समस्त पूर्वपीठिका विरासत में किसी न किसी रूप में प्राप्त हुई थी। इसने बहुरूप हो हिन्दी में अपना स्थान बनाया था।

हिन्दी कविता का प्रारम्भ इस परम्परा से नहीं हुआ, परन्तु कालान्तर में उसने अपने को इस योग्य बना लिया कि सब पुरातन को अपने कलेवर में भर ले सके। इसका कारण यह था कि हिन्दी का प्रारम्भ जिस वर्ग में हुआ वह उच्च वर्ण नहीं था, वह दलित वर्ग था, या कहें कि वह ब्राह्मण सर्वाधिकार का विरोध करने वाला था। चौदहवीं सदी के बाद ही ब्राह्मणों ने विवशता में इसकी ओर दृष्टिपात किया, और सोलहवीं सदी तक वे इस पर छा गये, क्योंकि संस्कृत से जनता का संबंध नहीं रहा था। उस समय और कोई मार्ग शेष नहीं रह गया था।

इस प्रकार हमने देखा कि संस्कृत, समाज तथा अन्य तत्त्व काव्य, कला और शास्त्र तीनों पर अपना प्रभाव डालते हैं और काव्य के वाह्यरूप में जो

निरन्तर परिवर्त्तन आता रहता है, वे ही इसके मूल कारण होते हैं। व्यक्ति अर्थात् कवि अचानक ही कुछ नहीं सोच लेते। उनके पीछे एक कारण होता है, और वह कारण जहाँ एक ओर समूह और व्यष्टि के संघर्ष में होता है तो दूसरी ओर उनके अन्योन्याश्रय में भी होता है। वस्तु को खण्डित करके देखना न्याय संगत नहीं होता। विशेष कर साहित्य के लिये तो वह और भी हानिकारक है, क्योंकि साहित्य का तो परम्परा ने ही यह अर्थ लगाया है कि साहित्य तो सहित का भाव है। मनुष्य के वैविध्य का बिम्ब साहित्य में ही तो प्राप्त होता है। वह 'समस्त' मनुष्य का सांगोपांग चित्रण है। यह हम इसलिए कहते हैं क्योंकि रूढ़ मार्क्सवादी आलोचक अपने दृष्टिकोण को व्यापकता नहीं देते। वह इस वाह्यरूप चित्रण को भी नहीं देखते। उनकी अपनी कुछ परिचित धारणाएं हैं जिन पर हर वस्तु को कसने की चेष्टा करते हैं। पहले वस्तु को देखने की आवश्यकता है, न कि अपना निर्णय देने की। परीक्षा प्रथम है, निष्कर्ष बाद की बात है। जो इस भेद को नहीं देखते, वे समाज शास्त्र से अनभिज्ञ ही माने जा सकते हैं।

: ४ :

प्राचीन काल में भी यह निर्विवाद नहीं माना जाता था कि शरीर में एक आत्मा का स्थान नियत है। वैदिक और उपनिषद् काल में यह माना जाता था कि आत्मा होती है। वह एक सूक्ष्म वस्तु है, जो ऋषि के शब्दों में धान की बाल की नोंक से भी इतनी महीन है कि दिखाई नहीं देती। वह प्राणी-मात्र के भीतर है। वही जीवन का चिह्न है। आत्मा ही असल में वह वस्तु है जो सारतत्त्व है। यह विचार बढ़ता गया और उस समय के समाज में इस 'आत्मा' की स्वीकृति ने मनुष्य के सहज कौतूहल को ही तृप्त नहीं किया, बल्कि समाज को गढ़ने में भी सहायता दी, अर्थात् समाज में जो कुछ हो रहा था, उसकी व्याख्या करने में काफी मदद मिल गई। उदाहरण के लिये यह कहना ठीक होगा कि आज ही हम अपने समाज को सुखी करना चाहते हों, ऐसी बात नहीं है। हम कोई नई बात नहीं कर रहे हैं। पुराने से पुराने जमाने में ऐसा करने का मनुष्य ने प्रयत्न किया है। जब कार्लमार्क्स का नाम भी नहीं था, तब भी ऐसी विचारधाराएँ जन्म ले रही थीं, जो कि समाज को सुखी करना चाहती थीं। विचारों का विकास तो बहुत पुरानी वस्तु है।

महाभारत में कथाएँ मिलती हैं कि एक बार ऋषि तप करके संसार के कल्याण की कामना करता है, कभी कोई राजा ऐसा चाहता है। एक दफे राजा जनक तो संसार का दुःख देख कर घरबार ही छोड़ बैठा। पर बाद में फिर उसकी रानी लौटा कर ले गई। और फिर भारत की तो बात ही अजीब है। बुद्ध के समकालीन अथवा कुछ बाद में, जब स्मृतियों के आधार पर रचे गये नये धर्मशास्त्र समाज में प्रस्तुत हो रहे थे, तब उन्होंने साफ बताया था कि विष्णु के मन्दिर में सब ही जासकते हैं, चाहे वे किसी भी जाति के क्यों न हों।

उससे पुराने समय में ऐसा कहाँ था? तब तो वैदिक वर्ण व्यवस्था का जकड़ा हुआ रूप था और वैष्णवमत ने शूद्र और चाण्डाल को भी मन्दिर में

घुसा दिया। ठीक वहाँ जहाँ ब्राह्मण और क्षत्रिय जैसे ऊँचे वर्ण के लोग जाया करते थे।

अतः यह कहना न्याय्य लगता है कि जिस सिद्धान्त ने भरत मुनि से कहलवाया था कि मनुष्य से मनुष्य मूलतः सामान्य भाव में एक है, अर्थात् आदमी आदमी के भावों में फर्क नहीं है, अर्थात् वर्ग, वर्ण, और जाति जिस प्रकार इंसान को इंसान से मूलतः भावनाओं में अलग नहीं कर सकते उसी सिद्धान्त ने वैष्णवों के पुराने रूप के माध्यम से इस सत्य को सामाजिक रूप देने की चेष्टा की थी। यह भी ठीक है कि उस समाज में इतनी लचक नहीं थी, जिसका कारण यही था कि आर्थिक व्यवस्था और उत्पादन के साधन साथ-साथ नहीं बदलते थे, तो लचक के अभाव में जिन भावनाओं को समाज की विषमता से ऊबे हुए मस्तिष्क सोचते थे, उनका आधार व्यवहार में नहीं पाते थे। अतः उतनी ही उनकी आधार भूमि अस्पष्ट सी रह जाती थी।

जिस प्रकार भरत का सिद्धान्त है, उसी प्रकार वैष्णव चिन्तन है, और यह इससे ही प्रमाणित हो जाता है कि समभाव के मूल उत्स में वही सामाजिक परिवर्तन था। बर्बर युग अर्थात् दास प्रथा का अन्त और सामन्तकाल का उदय ही इसका मूल था। अर्थात् एक समाज अपनी रूढ़ि, दासता को लेकर धीरे-धीरे समाप्त हो रहा था और समाज में दास की जगह अर्द्ध किसान ले रहा था। निश्चय ही यह समाज में एक उन्नति थी। इस उन्नति में आत्मा ने एक बहुत बड़ा काम किया था। यह विषय भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि सामंतकाल के उदय से ह्रास तक मनुष्य की समानता के तत्कालीन मूलाधार भरत के सिद्धांत और वैष्णवमत ने कैसे-कैसे पलटे खाये, कैसे-कैसे रूप धारण किये, किन्तु इस विषय को हम अन्यत्र देखेंगे। यहाँ आत्मा का कार्य्य ही देखना आवश्यक होगा।

आत्मा के विषय में जो सामाजिक चिन्तन के रूप है उन्हें हम मोटे तौर पर निम्नलिखित ढङ्ग से बाँट सकते हैं—

१—प्रागैतिहासिक काल में मनुष्य के सामने यह समस्या आई कि मनुष्य मरता है तब क्या होता है? चुनाँचे उसने बहुत यथासामर्थ्य सोच-समझ कर यह तय किया कि जो तन में बोलता है, चलता है और दुनियादारी के सारे

काम करता है वह इसमें से निकल जाता है। इससे अधिक वह नहीं समझ सका। और उसने यह कहा कि आत्मा एक न दिखाई देने वाली सूक्ष्मतम शक्ति हैं जो शरीर से बाहर निकल जाती है। इस समय मनुष्य सम्भवतः गुफाकाल के अन्त तक आ पहुँचा था।

२—फिर उसके अहेर करने के साथ-साथ पशु पालन शुरू हुआ जो कालान्तर में चरागाहों की खोज में चलने वाले झुण्डों की निर्मित तक आ पहुँचा। इस समय को हम पूर्व बर्बरकाल कह सकते हैं। आत्मा के सम्बन्ध में थोड़े बहुत गुण और जुड़ गये। पर अधिक उसके विषय में नहीं मिलता।

३—खेती की शुरूआत के साथ समाज जमकर रहने लगा। असुर, राक्षस किन्नर आदि प्राचीन जातियाँ इसी समय थीं। इनमें आत्मा का परमात्मा के सामने उत्तरदायित्व शुरू हुआ, अर्थात् समाज की व्याख्या के मूल स्रोत से व्यक्ति का परोक्ष सम्बन्ध जुड़ गया।

४—इसी विकास में दास प्रथा प्रारम्भ हुई और यद्यपि आत्मा सबमें मानी जाती थी और उसका समाज की नैतिकता से सम्बन्ध जोड़ते हुए, स्वर्ग, नरक की कल्पना बढ़ी, परन्तु फिर भी आत्मा को किसी एक रूप में नहीं बाँधा गया। मानवीय भावनाएँ तो तब भी थीं, परन्तु दास के ऊपर जब उच्च वर्ण अत्याचार या शासन करता था, तब उसके सामने दया का भाव नहीं उठता था। आपस में एक वर्ग के लोगों में पारस्परिक संबन्धों में मानवीय भावनाओं का मूल्यांकन होता था। जैसे उच्च वर्ण का उच्च वर्ण से विश्वासघात तो बुरा था, परन्तु दास के विद्रोह करने पर उसकी हत्या कर देने में दया का प्रश्न नहीं उठता था। इसका आजकल का उदाहरण है कि सारी बराबरी की बात करते हुए भी, अछूत को अछूत ही मानने वाले पुराणपन्थी अभी तक मौजूद हैं। यही भाव प्रजातन्त्र के आदिम रूपों की व्याख्या करने वाले ग्रीक दार्शनिकों में मिलता है, जिनमें प्लेटो प्रसिद्ध है। दार्शनिक शासक की कल्पना करनेवाले इस दार्शनिक के समाज की व्यवस्था ऐसी थी कि वह उच्चकुल को ही दृष्टि में रखकर अपनी सारी धारणा बनासका। जो बात प्लेटो आजसे लगभग २४०० बरस पहले कहता था, उससे मिलती-जुलती विचारधारा भारत में उपनिषद्-काल के पहले के समय में मिलती है।

(५) दास प्रथा टूटने लगी। उपनिषद् कालीन चिन्तन इसी दास प्रथा के टूटते वक्त का चिंतन है। अब आत्मा के संबंध में नया रूप समाज में प्रस्तुत हुआ। पहले जो मानवीय भावनाएं वर्णगत या वर्गगत थीं, वे अब व्यापकता धारण करने लगीं। अर्थात् अब यह माना जाने लगा कि सब की आत्मा समान है। यह कैसे हुआ ? पहले जो भाव वर्ण तक सीमित थे, वे सब वर्णों के लिये कैसे लागू होने लगे। इसका कारण भी समाज के विकास में ही मिलता है।

अनार्य्य जातियाँ और आर्य्य कबीले अलग अलग देवताओं को मानते थे। वे जातियाँ जब इस समय एक दूसरे के पास आईं तो उनमें घृणा कम हुई, विश्वास बढ़ा। एक दूसरे के देवता के प्रति उनमें सम्मान जागा। इस तरह धीरे-धीरे हर एक देवता के अलग-अलग रूप और गुण, एक ही देवता के रूप और गुण मान लिये गये। समाज में जातियों की अन्तभु क्ति ने बड़ा देवता बनाया। इस प्रकार की जातियों की अन्तमु क्ति ने ही दो देवताओं के विशाल परिवारों को जन्म दिया—एक विष्णु—और एक शिव। इनके परिवारों में पहले लड़ाई हुई, फिर शिव और विष्णु भी एक ही ब्रह्म के दो रूप माने गये। यहाँ यह याद रखना आवश्यक है भारत में वर्ग की समस्या ही नहीं जातियों की भी बड़ी समस्या थी। जातियों ने समस्या का रूप इसलिये धारण किया कि वे बहुरूप थीं और न केवल वे विकास के विभिन्न स्तर प्रकट करती थीं, वरन् यह भी एक कारण था कि वे जातियाँ आर्थिक रूप से विभिन्न प्रणालियों पर जीवित थीं।

निकटता के भाव ने उस महान ब्रह्म को बनाया जो सब के देवताओं से ऊपर था। वहाँ विराट पुरुष का रूप अपने आप बदल गया। पहले भी उसका वेद में वर्णन हुआ था। पर वेद के वर्णन में उसे महान कहने पर भी ऐसा वर्णनातीत नहीं कहा गया।

फिर विभिन्न अनार्य्य जातियों के विभिन्न प्रकार के विश्वास थे। कोई अव्यक्त परमात्मा को मानने वाली जाति थी, तो कोई भूत प्रेत को ही मानती थी। वह विश्वास उस जाति विशेष के अपने आर्थिक विकास आदि पर निर्भर थे।

ऐसे समय में आत्मा के संबंध में नया भाव बना। समाज में गरीब अमीर की खाई थी। बीमारी और तन्दुरुस्ती की मिसालें थीं। कोई लंगड़ा पैदा होता था, कोई बाद में कोढ़ी हो जाता था। यह सब क्यों था। कोई स्त्री विधवा हो जाती थी, किसी को वेश्या बनकर जीवन व्यतीत करना पड़ता था। कोई राजा के घर, कोई ब्राह्मण के घर और कोई नीच दास के घर जन्म लेता था, वही काम उसको करना पड़ता था। नदियों का व्यापार बढ़ने के साथ जो दस्तकारी बढ़ती जाती थी, उसका काम भी परिवारों के द्वारा ही श्रेणियों तक पहुंचता था। श्रेणियों में विविध जातियाँ भी हो सकती थीं। परन्तु काम उनका एक होना आवश्यक था। तब आर्य्य बद्धकीया और अनार्य्य बढ़ई अन्ततोगत्वा बढ़ई ही रहे। अब आर्य्य अनार्य्य नहीं रहा, बढ़ई जाति बन गई। बढ़ई का काम अपने आप अपने वातावरण के कारण बढ़ई का पुत्र आसानी से सीख सकता था। और जो जातियाँ गन्दा कार्य्य करतीं थीं, उन्हें तो उनकी सन्तान ही कर सकती थी। इस प्रकार भी जाति का जाति में पलना-बढ़ना चालू रहा। पर लोग उस समय आर्थिक व्यवस्था को बदल नहीं सकते थे। दास प्रथा इतने धीरे-धीरे टूटकर सैकड़ों बरसों में सामन्तीय व्यवस्था का रूप धारण कर सकी, कि वह परिवर्त्तन दिखाई नहीं दिया। यही तो कारण है कि उसके विषय में किसी ने स्पष्ट नहीं लिखा।

अब यहाँ यह दुहराना आवश्यक है कि ऐसे समाज में ही आत्मा ने व्यापकत्व धारण किया। क्योंकि समाज ने अन्तर्भुक्ति के कारण व्यापक दृष्टिकोण, व्यापक ब्रह्म धारण किया।

अब तक उच्च वर्ण का आदमी आनंद से अपना अधिकार समझकर अत्याचार करता था, और निम्न वर्ण उसको सहन करता था। अब सवाल उठा कि स्वामी स्वामी क्यों है? दास दास क्यों है? यह उथल-पुथल तब ही उठी, जब समाज की पुरानी व्यवस्था लड़खड़ा गई और नयी व्याख्या की आवश्यकता हुई।

अच्छा, समाज की आर्थिक व्यवस्था के विश्लेषण की शक्ति या जानकारी न होने से क्या हो सकता था? अपने वैज्ञानिक ज्ञान के अनुकूल, अपने तत्कालीन विश्वासों के अनुसार ही तो वे कार्य्य कर सकते थे। और यही हुआ।

अब आत्मा एक ऐसी वस्तु मानी गई जो कि सब देह धारियों में मानी गई। अब उच्च वर्ण और निम्न वर्ण और पशु तथा जड़-जङ्गम सभी योनियाँ मानी गईं। वही आत्मा घूमने वाली स्वीकार की गई। यही हो सकता था कि आत्मा कभी दास के रूप में धरती पर रही, कभी स्वामी के रूप में। परन्तु आत्मा ने ऐसा क्यों किया? इसके लिये दैवी आश्वासन प्रस्तुत हुआ—कर्मके अनुकूल जो काम नहीं करता वही दण्ड भोगता है।

यहाँ ये बातें हैं। पहली स्टेज में तो यह है: दास मानता है कि वह स्वामी से भिन्न नहीं है। सब समान हैं। स्वामी को भी स्वीकार करना पड़ता है और इस प्रकार यह दास के लिये मुक्ति का साधन है।

पर दूसरी स्टेज में: समानता मानते हुए भी दास तुरन्त व्यवस्था को नहीं बदल पाता। तब स्वामी वर्ग सोचकर कहता है कि यह तो ब्रह्मा का विधान है। इसमें क्या किया जा सकता है? वही जन्म देता है। इस प्रकार यह दास के लिये विवशता का बन्धन है।

तीसरी स्टेज में: समन्वय है। दास और स्वामी का एक माना जाना प्रगट करता है कि पुराने विचारों के अनुसार वर्णवाद टूट गया है, मगर नये विचारों ने वर्ण व्यवस्था का नया रूप प्रस्तुत किया है। एक प्रगति आर्थिक व्यवस्था के विश्लेषण के अभाव में उतनी ही प्रगति कर पाती है जितनी संभव है। बाकी बहुत सी बातें ऐसी छूट जाती हैं, जिनका शोषक वर्ग अनजाने ही ढङ्ग से अपने स्वार्थ साधन करने के लिये प्रयोग करने का मौका प्राप्त कर लेता है।

आत्मा की व्यापकता इस प्रकार समाज में आई और उसने नाट्यशास्त्र और वैष्णव चिन्तन में अपने को प्रगट किया। यहीं यह कहना उचित है कि गौतम बुद्ध एक क्षत्रिय गण के व्यक्ति थे और दास प्रथा उनके यहाँ भी टूट रही थी।

बुद्ध ने आत्मा को स्वीकार नहीं किया और अनात्म को प्रति पादित किया था। इसके निम्नलिखित पक्ष थे: आत्मा नहीं है यह कुलगणों के उस स्वामी कुल के लाभ की बात थी जो दासों पर अत्याचार करता था, क्योंकि दासों की समानता की बात का प्रतिरूप ही आत्मा की समानता का भाव था।

दूसरे आत्मा की अस्वीकृति में क्षत्रियों का वह विरोध भी सफल होता था जिससे वह ब्राह्मणों के सर्वाधिकार को चुनौती देते थे।

वैसे बुद्ध ने समानता की घोषणा की थी, परन्तु एक तो व्यवहार में वे उसे निभा नहीं पाये, दूसरे उनके समय में आखिर तो वही प्राचीन मान्यताएँ थीं, पुनर्जन्म का झगड़ा था। पुनर्जन्म को दास तो इसलिये प्रयुक्त करते थे कि लो स्वामी वर्ग! अत्याचार करो, कल तुम्हें दास बनना पड़ेगा। परन्तु बुद्ध के अनुयायी क्षत्रियों को मौका मिला। उन्होंने कर्म के अनुसार पुनर्जन्म माना, जिसमें आत्मा का डर जाता रहा, न बात साफ हुई, न शोषण घटा, समानता का कोलाहल तो बहुत हुआ, पर मतलब की बात उच्च कुलों की हुई और यों समाज में एक उलझन फैल गई, वह उलझन जो एक उच्चकुल के उस दार्शनिक ने फैलायी जो वैसे किसी भी पुराने वाक्य को अपने सामने तर्क की कसौटी पर कसने की बात करता था। इस विषय पर विस्तार से जाने की आवश्यकता नहीं रही। तथ्य यह प्रमाणित हुआ कि आत्मा ने इसी प्रकार युग-युग में युग-युग की विभिन्न आवश्यकताओं के अनुसार अपने गुणों की व्याख्या में नये-नये रूप धारण किये।*

आत्मा व्यक्ति का परिचायक है, ब्रह्म समाज का। और दोनों के अन्योन्याश्रय के विभिन्न रूप समाज में भिन्न रूपों में व्यक्त हुए हैं। हमने यहाँ तक वह अवस्थाएँ देखीं, जिनके बाद ही भरत मुनि ने साधारणीकरण का सिद्धांत प्रतिपादित किया था, जिसके मूल में यही आत्मा की समानता की बात थी। यही वैष्णव चिन्तन में भी था।

आत्मा के विषय में जो दृष्टिकोण समाज में रहे हैं, वाक्य में भी वे सदैव प्रतिबिम्बित रहे हैं। जैसे परमात्मा के विषय के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। कालान्तर में जब सामन्तकालका ह्रास हुआ और रससम्प्रदाय के अतिरिक्त ध्वनि, वक्रोक्ति, अलङ्कार, रीति आदि के सम्प्रदायों ने अपना महत्त्व प्रतिपादित किया, तब भी आत्मा के बारे में कही गयी मूल बात में परिवर्तन नहीं

---

* अशोक ने राज्यतन्त्र की व्याख्या में जो बौद्ध मत को स्वीकार किया था वह बौद्ध मत महायान था, हीनयान नहीं था।

हुआ था। तभी भाव के माध्यम से आत्मा ने अपना महत्व प्रत्येक सम्प्रदाय में जीवित रखा।

काव्य में आत्मा का विकास स्पष्ट हुआ और उसने काव्य में जिस माध्यम से अपना प्रगटीकरण किया वह भावपक्ष से अपना तादात्म्य जोड़कर ही प्राप्त किया। क्योंकि साहित्य का भाव से सम्बन्ध है, काव्य ने उसे ही अपने लिये स्वीकार किया। आत्मा का बिम्ब स्वीकार करके भी आत्मा के विश्लेषण को दर्शन के लिये छोड़ दिया।

काव्य की आत्मा को रस कहा गया। जिसमें रस नहीं है वह काव्य नहीं हो सकता, यही मूल बात स्वीकार की गई। काव्य के आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया अर्थात् वह अद्भुत आनंद कहा गया जो कि भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति से नहीं मिलता, अर्थात् वह आनन्द कहा गया जो चेतना के द्वारा मिलता है। चेतना भूत से भिन्न मानी गई। परन्तु आधुनिक विकास और विश्लेषण के आचार्य बताते हैं कि चेतना भी भौतिक तत्त्वों की विकासशीलता में एक गुणात्मक परिवर्तन है। हम यह विवाद यहीं छोड़ें क्यों कि यह पक्ष हमें दर्शन की ओर ले जायेगा। अपने लिये इतना स्पष्ट है कि काव्यमें आत्मा का स्थान ही भिन्न रूपों में प्रकट होता रहा है और उसने काव्य को स्थायी तत्त्व दिया है। स्थायी तत्त्व का मूलाधार भाव पक्ष में है। कैसी भी रचना हो यदि उसमें भाव पक्ष है तो साहित्य है। किन्तु भाव पक्ष के उसी रूप को श्रेष्ठ माना गया है जिसका कि साधारणीकरण के सिद्धान्त से तादात्म्य हो, और जो भावनाओं को उदात्त बना सके। इन तीनों तथ्यों का अर्थ हुआ कि भारतीय चिन्तन यह मानता है कि साहित्य वर्गों के लिये नहीं, सबके लिये होना चाहिये, उसमें बहुजन का कल्याण करने की शक्ति होनी चाहिये, न कि किसी सङ्कीर्ण मतावलम्बियों की, और उसे ऐसा होना चाहिये जो कि मनुष्य को और भी अच्छा बना सके।

इन तीन बातों का वह रूप जो कि उगता हुआ सामन्तवाद अपनी प्रगतिशीलता में प्रस्तुत कर सकता था, वह उसने रसवाद के रूप में प्रगट किया। नयी परिस्थिति में उसी का विकास करना आवश्यक है। वही विकास प्रगतिशील भी कहला सकता है। जो प्रगति विदेश के विचारों को ज्यों का त्यों

अपनाती है और अपने ही देश की परिस्थिति पर उसे ढंग से लागू नहीं करती, वह प्रगति नहीं कहला सकती।

प्रगति तो सदैव होती है। वह कभी नहीं रुकती। परन्तु सदा ही वे लोग उसे रोकने का प्रयत्न किया करते हैं जिनके स्वार्थों का बहुजनहित में नाश हुआ करता है। वह कितने भी दिन क्यों न बाधा उपस्थित करलें परन्तु अधिक समय तक वे उसे रोक नहीं सकते। इसका कोई भावनात्मक आधार नहीं, इसका तो ठोस सामाजिक कारण है। समाज में वे ही आगे बढ़ते हैं जो इसकी नयी आवश्यकता को पूरा कर सकते हैं, जो संसार को समृद्ध बनाते हैं। जो उत्पादन पर अपने को हावी कर लेते हैं, वे समाज की नयी आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ हो जाते हैं और कुछ ही दिन में गतिरोध में पड़ कर ह्रास की ओर अग्रसर होने लगते हैं।

प्रगति के नाम से आज जो आन्दोलन चल रहा है उसमें विद्वानों को उलझन सी दिखाई देती है। वह भी ठीक है। क्योंकि प्रगति की व्याख्या करने वालों में दो प्रकार के लोग हैं। पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने हिन्दी साहित्य में इस भेद को यों व्यक्त किया है कि कुछ प्रगतिवादी कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य हैं और वे उसके अनुशासन में बंधे हुए हैं। दूसरे वे हैं जो मार्क्सवाद को तो मानते हैं, परन्तु पार्टी के सदस्य नहीं हैं, और अनुशासनबद्ध नहीं है। मेरा विनम्र निवेदन यह है कि यह भेद यांत्रिक पद्धति का परिचय देता है। वस्तुतः ऐसा कोई भेद नहीं है। पार्टी के सदस्य सब एक ही बात कहते हों, ऐसा नहीं है। सच तो यह है कि यह दो विचार धाराएं हैं, एक विचार धारा मार्क्सवाद को ऐसा सत्य मानती है जिसको परखने की आवश्यकता नहीं है, और उसे ही शाश्वत स्वयं सिद्ध सत्य होना चाहिये, जो हर चीज पर एक सी लागू होती है और होती रहेगी। ये लोग भारतीय परिस्थितियों पर बरायेनाम नज़र डालते हैं और परिणामस्वरूप इनका जनता से कोई संपर्क नहीं है। दूसरी विचारधारा मार्क्सवाद को एक वैज्ञानिक खोज के रूप में लेती है, और सत्य को सापेक्ष मान कर परख करती है और यह रूढ़ विचार नहीं मानती कि जो मार्क्स ने कहा है वह सब कोई ईश्वरीय वाक्य है। और देश-

काल की परिस्थितियों के भेद को देखती है और ग्रंथों की जगह जनता के संघर्षों से अनुप्राणित होती है।

जड़वाद कहाँ से प्रारम्भ होता है? जहाँ तर्क बुद्धि या तो अपने को अपने ही जाल में समाप्त कर लेती है और नवीनता की ओर देखना ही नहीं चाहती, या वहाँ जहाँ तर्क बुद्धि केवल शास्त्रीय हो जाती है और उद्धरणों में ही विनष्ट हो जाती है। जो सब बातों का संतुलन रख कर चलते हैं वे ही जड़वाद का विरोध कर सकते हैं।

प्रगति काव्य को सप्राण रखती है, जड़वाद काव्य की नवीनता को छीन लेता है। वह पुराने की ही दुहाई देता है, या फिर अति-नवीनता के चक्कर में अपनी पुरानी विरासत को ही अपनाने से इंकार करता है। अपने दोनों ही रूपों में वह काव्य की सर्वाङ्गीणता का विरोध करता है।

किसी भी युग का काव्य तब ही जनमानस में उतरता है जब वह जीवन का सांगोपांग चित्रण करता है। सृष्टि की मूल समस्या, समाज की व्यवस्था, प्रकृति, व्यक्ति, और समस्त वस्तुओं का चित्रण साहित्य का अधिकार है। इन सब का चित्रण जब भावपक्ष से सान्निध्य स्थापित करता है तब ही वह काव्य है। सम्प्रदाय हर एक युग में हुए हैं, दार्शनिक विचारधाराएं भी हर एक युग में हुई हैं। एक समय बिल्कुल ठीक लगने वाले विचार भी आज अपने युग के अनुरूप ही सिद्ध हुए हैं। विचारों का तो निरन्तर विकास होते रहना चाहिये। उनको रोकना अपनी चेतना को नष्ट करने के समान है। जिन कवियों ने अपने सम्प्रदाय के विचारों को प्रतिपादित करते समय जीवन के नाना रूपों को अवहेलना की दृष्टि के देखा है, उनका दृष्टिकोण याँत्रिक होकर रह गया है और अपने युग में वे विचार भले ही सशक्त रहे हों, आगे के युग के लिये उनका केवल ऐतिहासिक मूल्य रह जाता है। परन्तु जो कवि समाज को देख कर बहुजनहिताय का आदर्श लेकर चले हैं और जिन्होंने मनुष्य का सांगोपांग चित्रण ईमानदारी के साथ किया है, उनके व्यक्तिगत विचार भले ही ऐसे न हों कि हम पूरी तरह से उनसे अपनी सहमति प्रगट करें, फिर भी उनका महत्त्व आज भी बना हुआ है। उदाहरणार्थ तुलसीदास को ही लिया जा सकता है।

तुलसीदास ने कलि का विरोध किया। जहाँ तक कलि में जनता के उत्पीड़न का चित्र उन्होंने उपस्थित किया है, वह आज भी भावस्पर्श करता है और उनकी वह भक्ति भरी विह्वलता जो संसार को दुखी देखकर प्रगट होती है, उनकी ईमानदार दृष्टि और सहृदयता के कारण आज भी करुणा ही नहीं जगाती, पाठक का हृदय उनके हाथ में दे देती है। परन्तु जहाँ तुलसीदास अपने वर्ण के लिये वर्णाश्रम धर्म की जाति भेद वाली परम्परा का प्रचार करते हैं, वहाँ वह बात केवल पुराण पंथी को ही पसन्द आती है और आज उसका प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता। यहाँ जड़वादी के एक कुतर्क को भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है। वह यह कहता है कि तुलसी ने राम के वर्णन में सामन्त का ही यश गाया है अतः वह हेय है। नहीं। तुलसी की युगसीमा यही थी। राम के रूप में तो जनता की वह भावना निहित थी जो लोकरक्षक का रूप बनाती थी। तुलसी में तो सामन्तवाद वहाँ मिलता है जहाँ वे वर्णाश्रम धर्म के लिये इतना अधिक बल देते हुए दिखाई देते हैं।

यद्यपि भारत में उत्पादन के साधन पहले बहुत धीरे बदले और बाद में अङ्गरेज़ों के आने के पश्चात् भी सब जगह एकसा परिवर्त्तन नहीं आया, फिर भी पहले की तुलना में परिवर्त्तन अधिक जल्दी हुआ और उसने अपना प्रभाव काव्य पर भी डाला। परिवर्त्तन सदैव भौतिक व्यवस्था में तुलनीय रूप में जल्दी हो जाते हैं, मानसिक अवस्था के परिवर्त्तन में अधिक समय लगता है। विचार का संसार अपने से पूर्व के विचारों से संबंध स्थापित रखता है। व्यवस्था के बदलते ही विचार नहीं बदल जाया करते। विचार तो अपना विकास करते हैं। इस विकास काल में जो संक्रान्ति का समय होता है वह काव्य में अपना रूप अवश्य प्रतिबिंबित करता है। नये का विकास एकदम नहीं हो जाया करता। उदाहरणार्थ हिन्दी कविता ही प्रस्तुत है।

आधुनिक युग के पिता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने गद्य के लिये खड़ी बोली को स्वीकार किया, किन्तु वे तुरन्त ही ब्रजभाषा को नहीं छोड़ सके और उसी में कविता करते रहे। द्विवेदी युग ने धीरे-धीरे खड़ी बोली का विकास किया और भाषा के सम्बन्ध में, छन्द के सम्बन्ध में, अनेक प्रकार के प्रयोग हुए। भावों का सम्बन्ध भी अपने क्षेत्र में आकस्मिक घटना नहीं थी। उसने पुरानी पर-

म्पराओं में से ही अपना विकास किया। द्विवेदीकाल के उपरान्त छायावाद आया। यद्यपि उसने एक नयी शैली को प्रस्तुत किया, किंतु उसे भी हिन्दी में एक मिलती जुलती पृष्ठभूमि प्राप्त हुई और भाषा को जो उसने इतना क्लिष्ट किया, या कहें परिमार्जित किया, उसकी भी संस्कृत बहुला पदावली के रूप में द्विवेदीयुग में पृष्ठभूमि मिलती है। छायावाद के बाद जो व्यक्तिवादी धाराएं हिन्दी काव्य में पल्लवित हुईं, वे भी छायावादी शैली से पूर्णतया मुक्त नहीं हो सकीं। ऐसे कवि कम ही हैं जो कि उस अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि को छोड़ कर असंलक्ष्यक्रम ध्वनि तक भी उतर कर आ सके हों।

संक्रान्ति अपने भीतर से नये युग को जन्म देती है। वह नया जन्म लेने वाला रूप पुराने की हूबहू नकल नहीं होने पर भी उसकी छाया अपने भीतर धारण करता है। उदाहरणार्थ भवानी प्रसाद मिश्र की निम्नलिखित कविता में हमें पुराने और नये रूप एक साथ प्राप्त होते हैं—

सौंदर्य का जन्म आदमी की आँखों में है,
आकाश की शून्यता पंछी की आँखों में है।

इस प्रथम पंक्ति का जो सहजोचित रूप है, वह दूसरी पंक्ति में नहीं है और उसमें छायावादी संश्लिष्ठ योजना दिखाई देती है।

यही आगे चल कर भी है :
अगर आदमी खूबी
न देखे तो सब खराब है,
अगर पंछी न उड़े तो
आकाश एक बड़ा घाव है—
घोंसले की छाती का
जो भर नहीं सकता,
अगर पंछी उड़े तो आकाश
उसका कुछ कर नहीं सकता।

कवि दो रूपों का रूपक बाँधता है और यद्यपि वह सफल हुआ है, परन्तु

भाषा जितनी सरल बन पड़ी है, जितनी स्पष्ट है, भाव न उतना सरल है, न स्पष्ट। परन्तु आगे चल कर वह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है—

आज के उदास सिद्धाँतों
को चीर डालो
हिम्मत के तरकश में
आशा के तीर डालो।

यह भाव ही बहुत प्रभावोत्पादक है, बल्कि काफी सुन्दर भी है। कवि आगे कहता है—

अंधेरे में दीपक जलाओ
अमावस में दीवाली मनाओ
अगर गले में गीत हो तो गाओ
चुप्पी का साँस टूट जाये
उसे ऐसा उठाओ।
उदार बनो,
इतना मत परखो साथियों को,
कसौटी पर नहीं कसते
हैं पगले बातियों को,
वे तो स्नेह में डुबा कर
सुलगा दी जाती हैं।

इस एक उदाहरण में ही यह दो रूपों का काव्य में साथ साथ चलना परिलक्षित होता है। इसी प्रवृत्ति की परिचायक अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की अनेक ऐसी रचनाएं हैं जो रीतिकालीन प्रभाव के अन्तर्गत लिखी गईं थीं।

आधुनिक तरुण कवियों में नीरज पर इस पुरानी अभिव्यञ्जना का प्रभाव काफी कम है। परन्तु उसमें उर्दू शैली का प्रभाव लक्षित होता है। वह कहता है—

प्राण को बस प्राण ही तो जानता है,
हृदय को केवल हृदय पहँचानता है।

यहाँ तक स्पष्टता रह कर उर्दू का प्रभाव आता है—

तुम विरह का दाह चुम्बन से न पूछो
प्राण ! मन की बात तुम तन से न पूछो ।

विरह के दाह के विषय में चुंबन से प्रश्नोत्तर करना नाजुक खयाली का ही परिचायक है और आधुनिक नये और प्रतिभावान कवियों में इसका प्रभाव पड़ता जा रहा है ।

साराँश यही है कि संक्रांति आवश्यक होती है । वह कभी उलांघी नहीं जा सकती । राज्य की व्यवस्था एक दिन में बदली जा सकती है, और समाज पर भी कानून लागू किये जा सकते हैं, परन्तु मन की दुनिया इतनी जल्दी कभी भी नहीं बदली जा सकती । यही कारण है कि आधुनिकता का बड़ा भारी प्रचार करने वाले भी आज के भारत में भी अभी तक सांस्कृतिक जागरण की उतनी सीमा प्राप्त नहीं कर सके है, जो कि किसी भी क्रान्ति की बुनियाद कहला सकती है ।

वह भूमि तभी बनती है जब रूढ़िवाद का स्थान देशकाल की परिस्थिति का ज्ञान लेता है, और अपनी ही संस्कृति के प्रगति के तत्त्वों का विकास किया जाता है । और भी सहज कहा जाये तो कहना होगा कि अपनी जनता के जीवनाधारों के पर्य्यवेक्षण की आवश्यकता होती है और नया काव्य, नयी कला अपने लिये एक नया शास्त्र भी चाहती है । तीनों का विकास एक दूसरे पर आश्रित रहने में ही होता है । परन्तु नवीनता यदि अपना रूप पुराने से जोड़ नहीं पाती, तो उसका जनजीवन से सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता । नवीनता की यह होड़ कुछ काल में ही गतिरोध को प्राप्त कर के समाप्त हो जाती है, जब कि पुरानी कहलाने वाली परम्परा नये युग में अपना विकास अपनी परम्पराओं और आवश्यकता के अनुसार कर लेती है । वह रोकी नहीं जा सकती जिस प्रकार नीरज ने कहा है—

तुम पिया का रूप दर्पन से न पूछो,

उसी प्रकार वह भी नहीं पूछती । वह संस्कृति को आत्मसात करके रहती है, वह कृत्रिम नहीं दिखाई देती ।

: ६ :

काव्य का प्रयोजन ऐसा विषय है जिस पर प्रत्येक विचारधारा के व्यक्ति का अलग-अलग दृष्टिकोण होता है। प्रत्येक कवि भी किसी न किसी विचार-धारा को मानता है। यह हो सकता है कि वह अपने को स्वतन्त्र विचारक कहे। तब यही कहा जा सकता है कि वह अपनी विचारधारा बनाता है और उसे ही अमल में भी लाता है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह किसी भी विचारधारा को मानता ही नहीं। क्योंकि यदि हम यह मानलें तो हमें कहना होगा कि ऐसे कवि जो किसी भी विचार से सम्बन्ध ही नहीं रखते, वे विचारहीन काव्य को ही जन्म देंगे। भाव का विचार से गहरा सम्बन्ध है। भाव को जगाना विचार का ही काम है। प्रवृत्ति का विचार से सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वह एक निम्नस्तर की वस्तु है। प्रवृत्ति जब परिष्कृत होकर भाव बनती है, तो उसका विचार से अभिन्न सम्बन्ध जुड़ जाता है।

कौन नहीं मानता कि उसकी विचारधारा सर्व श्रेष्ठ है? साहित्य में इसी-लिये विचारों का संघर्ष होता है। बल्कि व्यक्ति की स्वतंत्रता का पर्य्याय विचार स्वातन्त्र्य ही माना जाता है। विचार क्या है? कुछ लोग मानते हैं कि विचार एक स्वायत्त सत्ता है जिसका न अपने वातावरण से सम्बन्ध है, न किसी भौतिक पर वह आश्रित ही है। यह ठीक नहीं लगता। विचार भौतिक परि-स्थितियों पर आश्रित नहीं है, वह भौतिक परिस्थितियों में से ही जन्म लेता है। यह तो बादशाह अकबर ही प्रयोग कर चुका था कि एक बालक जब समाज से अलग रखा गया, तब वह प्रवृत्ति परक ही रहा, उसमें और पशु में भेद नहीं पाया गया। विचार सान्निध्य और संसर्ग से उठता है, भाषा के माध्यम से वह मस्तिष्क में रूप धारण करता है, और भाषा के माध्यम से ही वह दूसरे के पास पहुंचाया जाता है। हम जो कुछ सोचते हैं वह चित्रों के रूप में सोचते हैं। वे चित्र मूल जगत के प्रतिबिम्व हैं। परन्तु हम प्रत्येक चित्र

को एक संज्ञा देते हैं। वह संज्ञा ही भाषा है। वह भाषा एक व्यक्ति ने ईजाद नहीं की है। वह भाषा समाज में जन्मी है और किसी एक व्यक्ति को उसका जन्मदाता होने का श्रेय नहीं दिया जा सकता। भाषा एक दिन में नहीं बनती। मनुष्यों के मिलने जुलने, आपसी काम-काजों में नये-नये मानसिक चित्र अपने लिये जो ऐसी संज्ञाएँ ढूँढ़ते जाते हैं जिन्हें एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुँचाया जा सकता है, वे संज्ञाएँ ही अन्ततोगत्वा भाषा कहलाती हैं। सामने हरा पेड़ खड़ा है। एक व्यक्ति देखता है। पतली पत्तियाँ हैं। किनारे कटे-फटे हैं। हवा में झूमता है। अच्छा लगता है। उसके पास ही एक दूसरा पेड़ खड़ा है। उसकी पत्तियाँ कुछ लम्बी और मुड़ी हुई हैं। अब इन दोनों पेड़ों को देखने के बाद एक व्यक्ति दूसरे से कहता है—मैंने पेड़ देखे। दूसरे व्यक्ति ने एक चौड़ी पत्तियों का पेड़ देखा है और एक बहुत छोटी-छोटी पत्तियों का पेड़ देखा है। वह भी कहता है—मैंने पेड़ देखे। इस प्रकार के आदान-प्रदान में दोनों एक ही बात न कह सके, न समझ सके। तब पहला कहता है—मैंने एक नीम और एक आम का पेड़ देखा। दूसरा कहता है—मैंने एक पलास और एक इमली का पेड़ देखा। बात दोनों के सामने साफ हो गई। अब नीम, आम, पलास और इमली के नाम अपने साथ विशेष चित्र लिये हुए हैं। जब आदमी इन चीजों को देखता है तब भाषा के माध्यम से चित्र को ग्रहण कर लेता है। जो आदमी पेड़ शब्द को नहीं जानता वह 'पेड़' की अभिव्यक्ति करने के लिये अनेक प्रकार की चेष्टाएँ करेगा, जैसे खाने के लिए शब्द न जानने पर एक भाषा-भाषी, दूसरे भाषा-भाषी को कभी पेट तथा कभी मुँह पर हाथ ले जाकर, तथा कभी चबाने की नकल में मुँह चलाने की क्रिया करता है। तब हमने देखा कि यह अन्योन्याश्रित वस्तु सामाजिक है और उसका भौतिक ही उद्गम है।

कुछ लोग मानते हैं कि जब तक 'मैं' हूँ तब तक ही 'सब' है, क्यों कि जब मेरा मस्तिष्क काम करना बन्द कर देता है, अर्थात् 'मैं' मर जाता हूँ तब मुझे कुछ भी नहीं जान पड़ता। अगर 'मैं' नहीं हूं तो फिर यह जगत के कार्य व्यापार कहाँ है? अर्थात् कहीं नहीं है। ऐसे लोग ही मानते हैं कि विचार में

'सत्ता' की स्थिति है और विचार के बिना कुछ भी नहीं है।

किन्तु यही ठीक नहीं है। मेरा 'मैं' एक आकस्मिक घटना नहीं है। मेरे 'मैं' की अभिव्यक्ति का माध्यम सामाजिक है। मेरा 'मैं' एक माध्यम है, अन्त नहीं है। मेरा 'मैं' जगत का एक अंश है, सम्पूर्ण जगत नहीं है। मेरा 'मैं' एक अनुभूति है, उस भौतिक के सामूहिक मिलन की, जिसने मेरे शरीर का रूप धारण किया है। मेरे 'मैं' से पहले भी संसार था क्यों कि 'मैं' बाद में आया हूं, मुझे 'मैं' की बात सोचने की भाषा दूसरों से मिली है। यह सच है कि सारा संसार मेरे 'मैं' में अभिव्यक्त है, परन्तु मेरा 'मैं' अनादि अनन्त नहीं है। इसलिये इस 'मैं' की लघुता से विशाल संसार को व्यक्तिपरकता में नहीं आँका जा सकता। मेरा 'मैं' जिस शब्द-योजना से चित्रीकृत-भावराशि की अनुभूति प्राप्त कर रहा है, उसका उपादान सामाजिक है, वैयक्तिक नहीं है। अतः यह विचार तो असङ्गत है।

इसी विचार को बढ़ा-चढ़ा कर कुछ अन्य दार्शनिक दूसरे ही रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे मेरे 'मैं' को तो संकुचित मान लेते हैं परन्तु उसे भौतिक पर आश्रित नहीं मानते। वे यह कहते हैं कि यह भौतिक तो केवल आवरण है, जिससे यह 'मैं' प्रवेश करता है और निकल जाता है। उनसे पूछा जाता है कि ऐसा क्यों होता है? तब वे भी यही कहते हैं कि वह 'मैं', अपनी अभिव्यक्ति बिना इस भौतिक शरीर के, नहीं कर पाता, क्योंकि अपने सुख-दुख वह इसी में भोगता है। राग-द्वेष, वासना, घृणा, प्रेम आदि की अनुभूति इसी देह में होती है। तब हम देखते हैं कि भौतिक को हेय कहने वाले भी यही स्वीकार करते हैं कि भौतिक ही अभिव्यक्ति का मूलाधार है। अपनी बात को वे पूरी तरह समझा नहीं पाते। वे इसका उत्तर नहीं दे पाते कि उस 'मैं' की अभिव्यक्ति की आवश्यकता ही क्या है? वे यह भी नहीं बताते कि वह 'मैं' जब बाल्यावस्था से क्रमशः वृद्धावस्था तक विकसित होनेवाले शरीर में निवास करता है तब काल व्यवस्थानुसार चेष्टा ही क्यों करता है? वह उससे स्वतन्त्र क्यों नहीं हो जाता? वह 'मैं' पशु आकृति में उस भौतिक शरीर की मर्यादा में ही क्यों फँसा रहता है? कहने का तात्पर्य यह है कि वे लोग भौतिक पर पूर्ण रूप से आश्रित होते हुए भी उसको परिवर्तनशील समझकर उसे स्वीकार

नहीं करना चाहते। वे तो इस सृष्टि के मूल रहस्य को अपनी अटकल से समझना चाहते हैं और सृष्टि की महानता को, उसके अबाध सौन्दर्य को छोटा करके अपनी विचार श्रृङ्खला में ही जकड़ा रहना चाहते हैं। वे नहीं चाहते कि ऐसे कहलायें जो 'सत्ता' के रहस्य को पूर्ण रूप से जान नहीं सके हों ? इससे बड़ा दुर्दम्भ क्या हो सकता है ? वे तो दिमाग की लचक को खतम कर देना चाहते हैं।

जब वे 'मैं' को बाहर करके देखते हैं तब वे एक 'पूर्ण मैं' की कल्पना भी करते हैं। उस 'पूर्ण मैं' को 'सम्पूर्ण भौतिक' में व्याप्त देख कर भी, 'वे भौतिक' को झूंठा कह देते हैं और 'रज्जु में सर्प' का आभास देखने लगते हैं।

संसार के नाना विधि रूपों में वे सृष्टि के रहस्यों की खोज नहीं करते, वे 'विचार' को 'भूत समुदाय' से अलग करके देखते हैं।

हम यह मानते हैं कि सृष्टि के नाना विधि रूपों में ही सृष्टि का रहस्य है। वह उसी के भीतर है और उसी में से, उसी के द्वारा वह अपनी अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। वह मूल क्या है, वह अपनी अज्ञात है, और वह अटकल से अनुमेय नहीं है, वह 'प्रमा' के रूप में सृष्टि के भौतिक रूप से अलग नहीं है। 'विचार' से 'भूत' जन्म लेता हो, ऐसा प्रमाण नहीं मिलता, प्रमाण यह मिलता हैं कि 'भूत' के गुणात्मक परिवर्त्तन से 'विचार' जन्म लेता है।

तब हम इस तथ्य पर पहुँचे कि मनुष्य समाज में आदान प्रदान करके जीवित रहता है, और समुदाय में रहने के कारण, जिस प्रकार उसके जीवन की रक्षा का दूसरे उत्तरदायित्व ग्रहण करते हैं, वह भी दूसरों की रक्षा का उत्तर दायित्व ग्रहण करता है। इस उत्तरदायित्व का बाह्य रूप कानून, राज्य, पुलिस आदि है, सामाजिक रूप धर्म, नैतिकता आदि है, उसी प्रकार विचार के उस क्षेत्र में जहाँ भाव का प्राबल्य है इसके उत्तरदायित्व का सुन्दर रूप काव्य है, जो मनुष्य को सुन्दर से सुन्दरतर बनाता है। यही काव्य का मूल प्रयोजन है। और क्योंकि यह क्षेत्र भाव से सम्बन्ध रखता है, यहीं व्यक्ति और समाज का पूर्ण तादात्म्य संभव है और यहीं व्यक्ति की लघुता त्यक्त होकर उसका उदात्तीकरण होता है। यदि हम इसे शास्त्रीय शब्दों में प्रगट करें तो हम यही कहेंगे

कि भरत के साधारणीकरण और लोकरंजन पक्ष की ही यह व्याख्या है, जो आज प्रगतिशील चिंतन के रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त कर रही है, यह विदेशी नहीं, नितांत देशी चिंतन है। क्योंकि हम अभी विचार का भाषा से संबंध प्रगट कर आये हैं, और बता चुके हैं कि भाषा ही विचार को प्रगट करती है, हम यहाँ यह कहते हैं कि भाषा का सुन्दर होना काव्य के लिये आवश्यक है। सुन्दर का अर्थ क्लिष्ट होना नहीं है। सुन्दरता उसे कहते हैं जिसमें सहजता के साथ मन को लुभाने की शक्ति हो। और इसी माध्यम से अभिव्यक्ति की ग्राह्य शक्ति कहीं अधिक बढ़ जाती है। इस प्रकार हम काव्य के लिये यह भी स्वीकार करते हैं कि काव्य रसात्मक वाक्य ही है। यह रसात्मकता सापेक्ष वस्तु है, और उसकी सापेक्षता सामाजिक वस्तु है। सामाजिक चेतना भौतिक की सत्ता पर आधारित ही नहीं, उससे जन्म भी लेती है। पहले हम बता आये हैं कि 'पेड़' कहने ही से अभिव्यक्ति पूर्ण नहीं होती। 'आम' साथ जोड़ने से वह एक पूरी आकृति धारण करती है। इसी प्रकार लहलहाना, डहडहाना इत्यादि जोड़कर हम और भी पूर्ण चित्र दे सकते हैं। जितना ही चित्र पूर्ण रूप से अभिव्यक्त होगा, उतना ही वह स्पष्ट होगा। अभिव्यक्ति की यह पूर्णता ही काव्य का प्राण है, जिसे रसात्मक वाक्य कहते हैं। इस रसात्मकता के विश्लेषण से जब इसकी सापेक्षता को हटा लिया जाता है और शब्दों के चमत्कार को ही सब कुछ समझ लिया जाता है, तब 'कला कला के लिये' वाले सिद्धाँत का जन्म होता है। वह सिद्धांत उत्तर दायित्व के पक्ष का त्याग कर देता है और 'मैं' को 'हम' से अलग करके देखता है। वह हमारी उस महान परम्परा में रोड़े अटकाता है, जिसने आज तक मनुष्य को मनुष्य के निकट आने के लिये साधन दिये हैं। इस प्रकार काव्य का प्रयोजन यही ठहरता है कि वह सुन्दर ढङ्ग से, सहज तरीके से, भाषा के माध्यम से, ऐसे भावों को विचारों के द्वारा जगाये, जो मनुष्य को व्यक्ति वैचित्र्य की खाइयों में नहीं डालें, अनुदात्त नहीं बनायें, और उसे पहले से अधिक समृद्ध बना सकें। यही कारण है कि सिद्धान्त शास्त्रियों के प्रयत्नों के विषय में भले ही विभिन्न मत रहे हों, लोक ने उसे ही महान काव्य माना है, जिसने न केवल उसका रंजन किया हो, उसे उदात्त भावनाएं भी दी हों। केवल रंजन को

काव्य का प्रयोजन नहीं माना गया। उसे काव्य तो माना गया किंतु उसकी कोटि नियत करदी गई! यहाँ इस विषय को स्पष्ट करना आवश्यक हो गया है।

आचार्यों ने काव्य तीन प्रकार का माना है—उत्तम, मध्यम, और अधम। आजकल इस विभाजन की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। इसको पुराना कहकर छोड़ दिया जाता है। यदि हम इसकी व्याख्या को व्यापक बना कर देखें तो आज भी इसकी कसौटी बड़ी अच्छी है। आज बहुत से प्रगति शील विचारों के आलोचक प्रयोगवादी लेखकों के विरुद्ध लिखा करते हैं। उदाहरणार्थ अज्ञेय को लिया जा सकता है। प्रगतिशील लेखक अज्ञेय के स्पष्ट ही बहुत विरुद्ध हैं। वे यह मानते है कि अज्ञेय प्रगति के विरुद्ध है और बड़ा प्रतिक्रियावादी लेखक है। उनके अनुसार अज्ञेय जीवन की कुत्सा का ही प्रचार करता है। ठीक है। यदि यह सब ज्यों का त्यों मान लिया जाये तो प्रश्न उठता है कि अज्ञेय पर यह लोग इतना ध्यान क्यों देते हैं? इसका भी उत्तर वे देते हैं कि अच्छे और सशक्त लेखक का अपना प्रभाव होता है और उसकी बात को काटना इसीलिये बहुत ही आवश्यक हो जाता है। तो प्रश्न उठता है कि यदि अज्ञेय सशक्त और अच्छा लेखक है तो आपके अनुसार अच्छाई और शक्ति क्या है? अज्ञेय का 'विषय' आपके अनुसार प्रगति विमुख है। आप यह मानते हैं कि विषय का प्रगतिशील होना कला के लिये आवश्यक है, या यह मानते हैं कि विषय कोई भी हो, अच्छा लिखा जाना चाहिये, यदि आप पहली बात को मानते हैं तो क्या कोई भी 'आवश्यक' विषय ही कला की संज्ञा पा जाता है! यदि आप दूसरी बात को मानते हैं तो क्या दूसरे शब्दों में आप स्वयं यह नहीं कहते कि—कला तो कला के लिये है। विषय से क्या है, लिखा अच्छी तरह जाना चाहिये। तथा कथित प्रगतिवादी और ऐसे ही प्रयोगवादियों के दोनों दल इन दोनों प्रश्नों पर स्पष्ट नहीं हैं। इस झंझट का उत्तर आज से सैकड़ों बरस पहले काव्य की कोटि बना कर दिया जा चुका है।

उत्तम काव्य वह है जो विषय के दृष्टिकोण से बहुत ही कल्याणकारी है और आनन्दप्रद भी है। वह अत्यन्त सुन्दर ढङ्ग से प्रस्तुत किया जाता है।

मध्यम काव्य वह है जिसमें भावात्मकता बिल्कुल ही नहीं छूट जाती,

किन्तु उसमें कल्याण और आनन्द का पूर्ण समन्वय नहीं हो पाता। उसमें प्रस्तुत करने के ढङ्ग में त्रुटि भी रह सकती है, या शब्दों का अधिक खेल भी हो सकता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उसमें साधारणीकरण की व्यापकता उतनी नहीं होती, जितनी कि उत्तम काव्य में प्राप्त होती है। कल्याण समाज के लिये होने वाली वस्तु है, और आनन्द का व्यक्ति से संबंध होता है।

अधम काव्य को पहले चित्रकाव्य भी कहते थे। इसमें भावपक्ष की बात ही नहीं उठती। रीतिकाल में ऐसा काव्य राजाओं की प्रसन्नता के लिये लिखा जाता था और आजकल राजनैतिक पार्टियों के दस्तावेज़ों को जब उन पार्टियों के सदस्य छन्द का रूप दे देते हैं, तब उस प्रकार के काव्य में मिल जाता है। निष्प्राण! चेतनाहीन! आवश्यकता की पूर्तिमात्र! अमूमन ऐसे लोग मामकोवस्की की दुहाई दिया करते हैं कि उसने अनेक पोस्टरों और इश्तिहारों के नीचे दोहे लिखे जो कि क्रान्ति के लिये आवश्यक थे और उसने जन-साधारण के लिये कविता के दंभ को तोड़ा। ठीक है, क्रान्ति के दृष्टिकोण से तो यह अच्छा था, और मामकोवस्की ने तो बाद में किया, अपने यहाँ के आर्य्यसमाजी प्रचारकों ने क्या कविता के दंभ पर कम आघात किया! अधुनातन जो प्रयोगवाद और प्रपद्यवाद और इत्यादिवाद है वे सहज ही इस तृतीय कोटि के काव्य के अन्तर्गत आते हैं, क्योंकि इनमें कृत्रिमता की मात्रा अत्यधिक होती है, ऐसी कि कविता कवि मानस से दूसरे के पास पहुँचती ही नहीं।

ऊपर हम काव्य, कला और शास्त्र का भेद बता चुके हैं। यहाँ हम कह दें कि काव्य जिस प्रकार इन भेदों के प्रभाव से शासित होता है, वह क्रमशः वैसे ही उत्तम, मध्यम और अधम की कोटि में रखा जा सकता है।

यह तो एक आधार की बात हुई। परन्तु हम और भी उदार दृष्टिकोण चाहते हैं। वादों में न तो आज तक कविता बँधी है, न आज के कवि ही बाँध सके हैं। कोई कवि अपने को किसी वाद विशेष के अन्तर्गत माना करे, क्या उसकी सारी कविता भी उसी के अन्तर्गत आती है? कम से कम हमें तो ऐसा नहीं मिलता। तब यही अच्छा होगा कि हम कविमात्र या वादमात्र को देखकर ही नहीं टालें या प्रशंसा करें, हमें तो रचना विशेष को देखना चाहिये कि

अमुक रचना किस कोटि की रचना है? यह सच है कि ऐसा विभाजन करते समय आलोचक भूल कर सकते हैं, परन्तु इसमें वह दुःख नहीं है कि अमुक लेखक सशक्त है, परन्तु प्रगति विमुख है। शक्ति तो प्रगति से आती है। कला पक्ष उसी का सुन्दर हो सकता है जिसमें शक्ति है। विषय और वर्णन शैली, दोनों के मिलन की आवश्यकता है, तभी काव्य अच्छा बनता है। हमारे एक ओर प्रयोगवाद की अति है, तो दूसरी ओर कुत्सित समाज-शास्त्र की दूसरी अति है। हमें इन दोनों को ही त्यागना है।

पुराने आचार्यों ने अपने समय के अनुकूल विभाजन किया था। अब युग बदला है तो हमें अपनी नयी आवश्यकता के अनुकूल उस विभाजन को देखना चाहिये। जो पुराने को नहीं समझता वही उसे छोड़कर बचकर निकलने की चेष्टा किया करता है। पुराने ढङ्ग के आलोचक लकीर के फकीर होते हैं। वे पुराने में न तो कुछ जोड़ने को तैयार हैं, न उसकी व्याख्या करना ही उन्हें स्वीकार है। वे तो जैसा का तैसा ही मनवा लेना चाहते हैं, जैसे उस रचना विशेष या सिद्धान्त विशेष का अपने देशकाल से कोई भी सम्बन्ध नहीं था। यदि उनसे पूछा जाये कि आखिर यह चीज, एक खास जमाने में आकर क्यों पैदा हुई, पुराने सिद्धांत के रहने पर नये सिद्धान्त ने यहाँ जन्म ही क्यों लिया, पुराने से ही क्यों काम नहीं चल गया, तो वे इसका उत्तर नहीं देते। वे सत्य को खण्ड-खण्ड करके देखते हैं और उनकी यह मनोवृत्ति पुराने को सड़ाती है गलाती है, रूढ़ बना देती है, किन्तु वे क्या इतना कर लेने से विकास को रोक लेते हैं। नहीं, इतिहास अपनी अबाधगति से चलता है। दर्शनमत, सिद्धान्त या सम्प्रदाय कोई भी मनुष्य की गति को नहीं रोक सके हैं। वह निरन्तर एक दूसरे के समीप आने के लिये ऐसे-ऐसे कठोर विरोधियों से लड़ रहा है जो उसका विश्वास उसकी मनुष्यता में से ही उठा देना चाहते हैं। और मनुष्य अपना यह विश्वास कहाँ से प्राप्त कर सका है? उसकी सामाजिक चेतना ने ही उसे इस अवस्था तक पहुँचाया है कि वह उसके लिये संघर्ष कर सका है।

आज ही नहीं, भविष्य में भी कवियों की प्रतिभा में भेद रहेगा और यह तीन प्रकार की कोटियाँ तब भी रहेंगी। विद्वानों ने विचारों की व्यापक स्वतन्त्रता को स्वीकार करके ही यह कोटियाँ बनाई थीं, ताकि सम्प्रदाय विशेष के

लोग दूसरे प्रकार के विचारों को एकदम ही त्याज्य नहीं कहदें। अतः पुराने आचार्यों ने न विषय पर झगड़ा किया, न वर्णन शैली पर, न प्रस्तुत करने के ढङ्ग पर; उन्होंने तो 'विषय', 'वर्णन-शैली' और 'प्रस्तुत करने के ढङ्ग', को सम्मिलित रूप से देखा और उन्हें 'व्यक्ति' और 'समाज' से सापेक्ष करके देखा। साधारणीकरण उनका मूल था। कल्याण और आनन्द की भावना का सम्मिलन उनका मूल हो गया। यही कारण है कि जब कालिदास के मेघदूत की तारीफ में तथाकथित प्रगतिवादी झिझकते हुए कहते हैं कि उसकी वर्णनशैली अच्छी है, अतः वह रचना अच्छी है, और यह कहतेहुए जब वे अपनी आधार भूत सिद्धान्तगत निर्बलता के कारण 'कला कला के लिये' के सिद्धान्त का ही परोक्ष रूप से प्रतिपादन करते हैं, तब वे ठीक से न समझते हैं, न समझा ही पाते हैं। मेघदूत में आनन्द और कल्याण का समन्वय है। वर्णन सुन्दर है और वाह्य वस्तुगत (objective) है जो कि मनोजगतगत (subjective) अनुभूतियों को जगाता है।

यह भेद कवि की प्रतिभा पर आधारित होता है। कवि की सामर्थ्य कितनी है, यही सवाल अहम है। आज के प्रयोगवादी नये-नये प्रयोग क्यों कर रहे हैं क्योंकि न तो उनके पास जीवन का दर्शन है, न कोई ऐसा विचार जो उनकी अनुभूतियों को छू सके और इसीलिये वे कल्याण को तो छोड़ ही चुके हैं, व्यक्ति वैचित्र्यवाद को प्रमुखता देते जा रहे हैं, जिसमें उनको अपनी मुक्ति का रास्ता दिखाई देता है। उत्तरदायित्व को स्वीकार ही न करने वाला, क्यों कर उसके लिये कष्ट उठा सकता है?

समाज की व्यवस्था व्यक्ति की निष्ठा का निर्माण करती हैं। बुन्देलखण्डी में लोकगाथा प्रसिद्ध है कि 'समय होत बलवान', समय मनुष्य की नीयत पर असर डालता है। वही प्रत्येक युग के आलोचकों पर अपना असर डालता है। आज के आलोचक भी इसी चक्कर में शीघ्र यश प्राप्त कर लेना चाहते हैं। वे सृजनात्मक आलोचना के स्थान पर ध्वंसात्मक आलोचना लिखते है। इसमें उन्हें एक लाभ यह होता है किसी की प्रशंसा नहीं करनी पड़ती, क्योंकि प्रशंसा यदि संतुलित नही होती, तो वह चाटुकारिता दिखाई देती है। ध्वंसात्मक विवेचन में तो जितनी ही अधिक उग्रता होगी, उतनी ही लोग उसमें

उत्तेजना प्राप्त करते हैं और आलोचक को विशेष मतवाद का प्रहरी स्वीकार कर लिया जाता है। परन्तु ऐसी आलोचना बहुत दीन होती है। उसका कोई ठोस प्रभाव नहीं पड़ता।

शैली की दृष्टि से प्राचीन आचार्यों ने काव्य के निम्नलिखित भेद दिये हैं—गद्य, पद्य तथा चंपू। स्वरूप की दृष्टि से काव्य के दो भेद किये गये हैं: श्रव्य और दृश्य। काव्य का मूल रस को माना गया है और उसकी निष्पत्ति के विषय में भट्टलोलट्ट ने उत्पत्तिवाद, शंकुक ने अनुमितिवाद, भट्टनायक ने भुक्तिवाद, तथा अभिनव गुप्त ने अभिव्यंजनावाद का प्रतिपादन किया था। विद्वानों की यह बहस एक सूक्ष्मदर्शिता की ओर इंगित करती है। इस विषय के अधिकाधिक अध्ययन से प्रगट होता है कि जिस मूल को भरत ने स्वीकार किया था कि साधारणीकरण आवश्यक है, उस पर बाद में बदलते हुए समाज की व्यवस्था में नये-नये विवाद उठे। और काव्य के विषय में यद्यपि उलटफेर करने के यत्न हुए किन्तु मूलभाव वही बना रहा।

काव्य के तीन गुण माने गये: माधुर्य, ओज और प्रसाद। फिर वैधर्मी, गौड़ी, पाञ्चाली नामक रीतियों की व्याख्या हुई और उपनागरिका, परुषा, कोमला वृत्तियों को प्रस्तुत किया गया, तदुपरान्त वृत्ति का और रीति का गुणों से सम्बन्ध जोड़ा गया। रुय्यक ने वृत्ति का सम्बन्ध अर्थ से जोड़ा और रीति का शब्द से। भरत ने कौशिकी, सात्वती, आरभटी, भारती नामक जो वृत्तियाँ बताई हैं वे रसान्तर्गत हैं। कालांतर में अलङ्कारों की ओर ध्यान बढ़ता गया। शब्द, अर्थ और उपमालंकारों की भरमार हो उठी। अलङ्कारों पर तो बहुतायत करके लिखा गया है।

विद्वानों ने काव्य की सिद्धि के तीन उपाय बताये हैं: शक्ति अर्थात् प्रतिभा, निपुणता अर्थात् व्युत्पत्ति तथा अभ्यास।

काव्य के पुराने मानदण्डों में उनके अपने समय की आवश्यकता को लेकर लिखा गया था। गौड़ी, वैधर्मी और पाञ्चाली रीतियाँ तीन विशेष भूभागों की ओर द्योतन करती हैं और उस विशाल अंतर्भुक्ति की ओर इंगित करती हैं, जिसने एक समय भारत के मनीषियों का ध्यान अपनी ओर केन्द्रित

किया होगा। विभिन्न प्रान्तों की विशेष शैलियों को एक सा कहकर स्वीकार कर लिया गया था।

भरत ने यह कहा था कि भाव विभाव अनुभाव आदि के संयोग से इस की निष्पत्ति होती है। याद रहे वह सामन्तकाल के उदय का समय था। यहाँ हम इस विषय को स्पष्टतम करने को एक रेखाचित्र उपस्थित करते हैं।

१—(अ) पूर्व वैदिककाल।

काव्य जनता का था। तब जनता वैदिक संस्कृत समझती थी। तब चरागाह खोजते हुए आर्य्य कबीले घूम रहे थे।

(आ) उस समय अवश्य ही आर्य्येतर जातियों में भी काव्य रहा होगा। नृत्य तो अप्सराओं में था ही। अप्सराओं के ही नृत्य को हल्लीशक कहते थे। नाटक के प्रारम्भ की कथाएँ प्रकट करती हैं कि संगीत तो ब्रह्मा ने गन्धर्वों से ही सीखा था। परन्तु इनके जो भी चिह्न हमें प्राप्त होते हैं, वे वही हैं जो आर्य्य साहित्य में अन्तर्भुक्त होकर जीवित रह सके हैं। बाकी का कोई चिह्न नहीं मिलता।

२—(अ) जब आर्य्यों में दास प्रथा प्रारम्भ हुई और वैदिककाल का विकास हुआ तो धीरे धीरे काव्य उच्च वर्णों के हाथ की वस्तु हो गई।

(आ) अनार्य्य भाषा और साहित्य की अन्तर्भुक्ति निस्संदेह इस समय बढ़ गई होगी।

३—(अ) उत्तर वैदिक काल में अंतर्भुक्ति का विकास हुआ।

(आ) और आरण्यक काल के उदय में तो काव्य कर्मकाण्ड और दर्शन की ही अभिव्यक्ति बन गया।

४—इसके बाद वह समय आता है जब लौकिक संस्कृत का उदय होता है, फिर विकास होता है। इसी समय में यास्क हुये और उनके बाद पाणिनि हुए। पाणिनि के बाद संभवतः भरत हुये और इसी समय उपनिषदों द्वारा आत्मा की समानता का सिद्धान्त, वैष्णव मत के सिद्धान्तों को पुष्ट कर रहा था। यही समय था जब कि दास प्रथा पर अर्द्ध-भूमि बद्ध किसान उठ रहा

था। दास-स्वामी पर सामंत विजयी हो रहा था। इस समय साधारणी करण की बात उठी थी।

हमारे आलोचकों को देखना चाहिये कि यों एक युग विशेष का अन्त हो गया। इसके बाद सामंत काल का विकास हुआ। और धीरे धीरे सामंतीय व्यवस्था जर्जर होने लगी। तपोवन से उठ कर काव्य दरबारों में गया और फिर दरबारों की संस्कृति उस पर अपना प्रभाव डालने लगी। भरत के बाद जिन विकासों का हमने ऊपर परिचय दिया है, वे सब अपने युग की दरबारी संस्कृतियों की प्रभाव शीलता का परिचय देते हैं।

भरत के समय में नाटक की समस्या सबसे बड़ी थी। उनमें अलंकारों पर विशेष नहीं लिखा गया है। नाटक का विकास बहुत महत्त्वपूर्ण है। नाटक का तो जन साधारण से सीधा संपर्क रहता-है। उसमें लेखक के लिये व्यक्ति स्वांतत्र्य की यह गुन्जायश नहीं रहती कि देखने वाला समझे चाहे न समझे हमने तो महान काव्य को जन्म दिया है। वहाँ तो हाल के हाल बारा न्यारा होता है। परन्तु जब मुक्तक काव्य को प्रधानता प्राप्त होने लगी—दर्बारों में मुक्तक का प्रचलन अधिक सरल भी था—काव्य जन जीवन से दूर होता गया और हम इतिहास में स्पष्ट देखते हैं कि आगे के युग में जन सम्पर्क काफी दूर हो गया।

भट्टि, भट्ट लोल्लट, शंकुक, मेधाविरुद्र, भामह, उद्भट, दण्डी, वामन, बाण, रुद्रट, कुन्तक, महिम भट्ट, आनन्द वर्द्धन आदि भरत के बाद की शताब्दियों में क्रमशः दिखाई देते है और रीति, अलंकार, वक्रोक्ति, तथा ध्वनि संप्रदाय जन्म लेते हैं। किन्तु दसवीं सदी में हमें दो दल मिलते हैं। दर्बारी परम्परा में भोज अलंकार में ही लगे हैं, जब कि अभिनवगुप्त, राज शेखर, धनंजय अब रसवाद की प्रधानता को अधिक स्वीकार करते हैं। परवर्त्ती काल में मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ से लेकर जगन्नाथ तक इनका समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है।

हम ऊपर कह आये है कि सामन्तकाल का ह्रास भी दासकाल की भांति भारत में बहुत धीरे धीरे हुआ। अतः यहाँ झटके से परिवर्त्तन नहीं मिलता। वह धीरे धीरे होता है और कभी कभी घूम फिर कर थोड़ा रूप बदलकर पुराना

स्वरूप ही आकर उपस्थित होता है। इस नये में पहले की तुलना में कुछ अधिक रियायत मिलती है। याद रहे कि जिस समय भारत में वक्रोक्ति, ध्वनि और रीति तथा अलङ्कार आदि से काव्य की व्याख्या की जाती थी, उस समय देश की यह परिस्थिति थीः

१—संस्कृत जन भाषा नहीं थी। वह उच्चवर्णों या कुलों या आभिजात्यों की भाषा थी। जनभाषा तो संस्कृत नाटकों के साथ प्रयुक्त हुई है।

२—देश पर छोटे छोटे सामन्तों का राज्य था। वे सामन्त एक बड़े सम्राट के आधीन थे। जनता इनके बोझ से लदी हुई थी परन्तु शोषण ही हो, ऐसा नहीं था। जनता की ग्राम पंचायतें सशक्त थीं, पैदावार का विशेष ग्राम में ही रह जाता था। अतः पिसी हुई जनता भी भूखी नहीं थी। सामंतों का एक और काम था। उस समय विदेशी जातियाँ भारत पर बहुत आक्रमण कर रही थीं। सामंत उनसे लड़ते थे। इस प्रकार सामन्तों का थोड़ा बहुत प्रगति तत्त्व बाकी था। दरबारी संस्कृति बढ़ रही थी और जनता की संस्कृति से उसका तादात्म्य हट रहा था। ऐसे अन्तर्विरोधों की यह परिस्थिति ही नवीन सम्प्रदायों को जन्म दे सकी और यही अन्तर्विरोध था कि कोई संप्रदाय रसतत्त्व को निर्मूल मिटा नहीं सका।

३—छठी सदी के बाद भारत का व्यापार बाहर से रुक गया। देश खंड खंड हो गया। और दो प्रयत्न साफ उभरे। एक तो दर्बारी संस्कृति प्रधान रहा जो अलङ्कारों में मग्न रहा, दूसरा वह था जो समस्त अतीत की नयी व्याख्या और सामंजस्य कर रहा था। इसी समय जनता का असन्तोष भी बढ़ा क्योंकि विदेशी आक्रमण तो रुक गये, परंतु देशीय सामंतों का भार बढ़ चला। सामन्त काल के विकास में जो जनवादी आन्दोलन वैष्णव मत के रूप में चला था, वही फिर भक्ति संप्रदायों के रूप में सिर उठाने लगा। उसने धीरे २ जन-भाषाओं में अपना प्रचार प्रारम्भ किया और रस सम्प्रदाय की ही प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। इसके द्वन्द्व में हमें बौद्ध सिद्धों की रचनाएँ, नाथयोगियों की रचनाएँ प्राप्त होती हैं जो यद्यपि जनता में फैले असन्तोष को व्यक्त करती है, किन्तु उनमें वैयक्तिकता का प्राबल्य कहीं अधिक मिलता है। इसका कारण यह था कि परिवर्त्तन जड़ में नहीं था। उत्पादन के साधन नहीं बदल रहे थे। केवल

व्यापार के संतुलन में फिर परिवर्त्तन आ रहा था और जातियों की समस्या फिर एक व्यापक अंतर्भुक्ति चाहने लगी थी।

(४) इसी समय इस्लाम की मतानुयायी जातियों का आक्रमण हुआ और समस्या ही बदल गई। नया आक्रमणकारी पहले के आक्रमणकारियों की भाँति न था। उसने समस्त प्राचीन को ढहा देना चाहा और इसका परिणाम यह हुआ कि द्वन्द्व ने नया रूप धारण किया। एक ओर इस्लाम के सम्प्रदाय की स्थिति हुई, दूसरी ओर सारा भारत एक हो गया। किन्तु यह परिस्थिति भी क्रमशः बदलती हुई रही, जिसने निरन्तर अपना विकास किया।

इस प्रकार हमने देखा कि रसवाद हमारी मानवीयता का प्रतीक बन कर भारतीय साहित्य में उदय हुआ है और बाकी के संप्रदाय भी देशकाल की परिस्थितियों से ही उत्पन्न हुए हैं। शब्द और अर्थ को लेकर जो विभिन्न मत स्थापित हुए है वे देश की समृद्धि के और अवकाश के परिचायक हैं। उनका विकास हुआ है और आवश्यकता इस बात की है कि उनमें से प्रत्येक पर इसी दृष्टिकोण को लेकर विशद विवेचन किया जाये। अधिकाधिक गवेषणा ऐसे तथ्यों को प्रस्तुत करेगी जो कि काफ़ी महत्वपूर्ण होंगे। अभी तक इन सब संप्रदायों को अलग-अलग कर के देखा गया है और ऐसा ही प्रयत्न विदेशी मनीषियों का भी रहा है। उनसे ऐसा हो जाना असंभव नहीं, क्योंकि वे भारत की आत्मा को समझने में असमर्थ ही रहे हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र पर निश्चय ही ईसाई मत का तथा इस्लाम संप्रदाय के दृष्टिकोण का भी प्रभाव पड़ा है। इस्लाम की बात करते समय यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि इस्लाम की कोई विशेष संस्कृति नहीं रही है। इस्लामी देशों में सबसे प्राचीन संस्कृति वाला देश ईरान था। ईरान ने ही अपना सबसे बड़ा प्रभाव डाला है। ऋग्वेद में जिन असुरों से देवों का संघर्ष मिलता है, वे भी ईरानी ही थे और सुसभ्य लोग थे। असुरों को राक्षसों से नहीं मिलाना चाहिये। असुर संस्कृति का अपना महत्त्व था। बीच में ईरान को भारतीय संस्कृति ने प्रभावित किया था। ईसा से पूर्व पाँचवी सदी से ही ईरान में शाही वंश का प्रभुत्व दिखाई देता है। सिकन्दर ने ईरान के सम्राट दारयोश को हो हराया था। इस्लाम, से प्रभावित होने के बाद जिस संस्कृति

ने भारत में विशेष प्रभाव डाला, वह रूप बदल कर उपस्थित होने वाली ईरानी संस्कृति ही थी। अरब की संस्कृति विशेष नहीं थी। बल्कि अरब की संस्कृति का वैविध्य तो इस्लाम के प्रतिपादन के बाद रुक गया था, जब कि ईरान का विकास सूफ़ी मत के माध्यम से फिर भी होता रहा था। अरब की वह कविता जो मुहम्मद से पहले रची गई थी आज भी अधिक मान्य है और मुसलमान कालीन आज की कविता से तुलनात्मक रूप में अधिक अच्छी मानी जाती है।

भारतीय संस्कृति ने कभी नकल नहीं की। उसमें तो आत्मसात् करने की शक्ति है। जब भी कोई अच्छी बात मिली है, उसने उसे अपना करके पहले देशज रूप दिया है और तब ही उसे प्रस्तुत किया है। उसका अध्ययन तब ही संभव हो सकता है जब हम उसे देशकाल से सापेक्ष रखकर देखें अन्यथा हम उसको नहीं समझ सकते।

: ६ :

अ] काव्य ने जनजीवन से अपना संपर्क सदैव ही रखा है। जनता के जीवन को अपने भीतर एकत्र किया है और इस प्रकार उसने परम्परा के अनुसार अपने भीतर वैविध्य का चित्रण किया है। धर्म का जनता से सम्पर्क रहा है। धर्म का अर्थ आजकल रूढ़ि और अंधविश्वास से ही लगाया जाता है। परन्तु प्राचीन काल में ऐसा नहीं था। धर्म उस नियमावली या पद्धति का पर्याय समझा जाता था, जिसको मनुष्य अपने लिये कल्याणकर समझता था।

धर्म के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। फिर भी इस विषय में किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता कि धर्म असल में उस कानून का नाम है जिसे समाज स्वीकार करता था। पहले समाज, राज और सरकार अलग अलग नहीं थे। फिर जब वर्णाश्रम की व्यवस्था हुई तब राज और सरकार का भेद हुआ। राज रहेगा, सरकारें बनती बिगड़ती रहेंगीं। परन्तु जब सरकार दूसरे धर्म की बनी, तब धर्म की रक्षा के लिये समाज, राज और सरकार के भेद अलग-अलग हो गये। यही कारण है कि जब अपनी अर्थात् मान्य देशी सरकार की स्थापना हुई है तब उसे धर्म रक्षक भी कहा गया है। भारत के धर्मरक्षक राजा और यूरोप के धर्म रक्षक राजा में भेद हैं। यूरोप के ईसाई या मध्य पूर्व के मुसलमान शासक धर्म रक्षक नहीं, सम्प्रदाय रक्षक थे। हमारे देश के भीतर एक ही राज्य में कई कई सम्प्रदाय के लोग रहे हैं। यह नहीं कि राजा विशेष ने संप्रदाय के नाम पर दूसरों को नहीं सताया हो। अवश्य सताया। परन्तु वे राजा अच्छे राजा नहीं माने गये। जो सब सम्प्रदायों को समान दृष्टि से देखे, वही अच्छा राजा माना जाता था।

इस दृष्टि से धर्म जीवन का एक अङ्ग होगया। पहले धर्म को निश्चित करना रूढ़िगत नहीं था। बाद में जब उसने स्वतः विकास करने का मौका नहीं पाया, विभिन्न सम्प्रदायों से मिलन हुआ और उसे किसी तरह जीवित

रखने का प्रयत्न हुआ, तब उच्च वर्णों के स्वार्थ और जन-समाज की अशिक्षा, तथा परम्परा के मोह ने रूढ़ियों को जन्म दिया।

प्राचीन काल में 'धर्मशास्त्र' का अर्थ था— समाज की नियमावली— कानून आदि।

धर्म का रूप स्थिर करना ही महाभारत का प्रयत्न रहा है। महाभारत में कितनी बड़ी उथल पुथल है, यह देख कर श्रद्धा से सिर झुक जाता है कि वे हमारे पूर्वज अपनी युग सीमाओं और लघुताओं में बँधे हुए भी मानवीय दृष्टिकोण से कितनी व्यापक महानता धारण करते थे। उन्होंने कितनी महिमा का सृजन किया था।

बाल्मीकि रामायण में धर्म की स्थापना का प्रयत्न करते हुए राम हैं। उनके समय में धर्म निश्चित है और ज्ञात है। कृष्ण की भाँति वे नहीं कहते कि जब-जब धर्म का क्षय होगा तब-तब मैं धर्म की संस्थापना केलिये आऊँगा। एक सुव्यवस्थित समाज का चित्रण अपना आदर्श लेकर बाल्मीकि रामायण में उपस्थित हुआ है। कालान्तर में जब तुलसीदास ने अपनी रामायण लिखी उनमें धर्म की पुनः प्रतिष्टा करने का भीम प्रयत्न दिखाई देता है। तुलसीदास के समय में सरकार एक विदेशी की थी। तुलसीदास चाहते थे कि समाज पुराने धर्म शास्त्रों के अनुसार ही फिर से चलित हो।

धर्म का अर्थ आनन्द और कल्याण का समन्वय माना गया है। धर्म का अर्थ व्यक्ति और समाज के कर्तव्य और अधिकारों की समन्वित चरमावस्था है। जब काव्य समाज के प्रति उत्तरदायित्व नहीं रखता, वह किसी मतवाद के प्रति उत्तरदायी हो जाता है, तब उसका धर्म के 'मूल अर्थ' से तादात्म्य नहीं रहता और इस प्रकार जन-जीवन से भी सम्बन्ध छूट जाता है। बौद्ध साहित्य के साथ यही हुआ। वह जन-जीवन से सम्पर्क खो बैठा और नियमावली में जा डूबा। ब्राह्मण और जैन साहित्य में ऐसा नहीं हुआ। यही कारण है कि वे आज भी लुप्त नहीं हुए। परवर्त्ती बौद्ध साहित्य तो व्यक्ति-वैचित्र्यवादी हो गया, अर्थात् रहस्यवाद में डूब गया।

आज एक वर्गहीन समाज बनाने की बात हो रही है। अर्थात् अब वास्तव में एक नया कानून बन रहा है, जो वर्ग और वर्ग का द्वेष मिटायेगा। वहाँ

व्यक्ति को समाज में पूर्ण स्वातन्त्र्य मिलेगा, वह स्वातन्त्र्य जो केवल अधिकार नहीं, कर्तव्य का भी समुच्चय होगा। तब नये लेखकों को यह ध्यान रखना होगा कि वे पुराने का ध्वंसमात्र करने के लिये नहीं हैं। उन्हें उन मानवता के तत्त्वों का एकत्रीकरण करना होगा। उन्हें यह नहीं समझना चाहिये कि कार्ल-मार्क्स अन्तिम विचारक था। उसके आगे सारी समस्याओं का अन्त हो जायेगा। नहीं। वह तो एक विचारक था। मानवता एक व्यक्ति से कहीं अधिक बड़ी है और वह निरन्तर विकास करती चली जायेगी। चीन के कम्यूनिस्ट नेता माओ-त्से-तुङ्ग से एक बार एक ईसाई पादरी ने पूछा था: कम्यूनिज़्म क्या आपका धर्म ही नहीं है? कोई रूढ़िवादी कम्यूनिस्ट इसे कभी स्वीकार नहीं करता। माओ-त्से-तुङ्ग ने उत्तर दिया: हाँ! कम्यूनिज़्म मेरा धर्म है। मेरा धर्म है जनता की सेवा करना। माओ-त्से-तुङ्ग ने अपने समस्त प्रयत्नों का आधार मूलतः मानवता में देखा और इसी में अभिव्यक्त भी किया। इसका कारण यही था कि चीन की प्राचीन संस्कृति नयी व्यवस्था का विश्लेषण कर रही थी। कन्फ्यूशियस के सिद्धान्त नैतिकता के सिद्धान्त थे और चीन ने समाज में रहने के रूप को ही धर्म की संज्ञा दी थी। चीन का धर्म का रूप, भारत के धर्म के रूप की भाँति उलझ नहीं पाया, क्योंकि वहाँ भारत की सी जटिलताओं का उदय नहीं हो पाया। वह भारत और चीन के ऐतिहासिक विकास का अपना भेद है।

आ] इस भेद का मूलाधार दर्शन के प्रति दृष्टिकोण में निहित है। दर्शन शास्त्र ने विभिन्न समयों में विभिन्न प्रकार से मानव जीवन और सृष्टि की समस्याओं की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। वैदिककालीन महर्षि ने जब दर्शन की गुत्थी सुलझाई तब विराट पुरुष के माध्यम से समस्त समाज की व्यवस्था की व्याख्या की। उपनिषदों के समय महर्षियों ने जातीय अंतर्भुक्ति के काव्य में उस ब्रह्म का सिरजन किया जो सब छोटे-छोटे सांप्रदायिक देवताओं से ऊँचा था। कपिल क्षत्रिय ने ईश्वर को असिद्ध करार दिया। कहा कि प्रमाण के, आधार के अभाव में ईश्वर को निश्चित रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता। जैन धर्मावलंबी पार्श्वनाथ ने ईश्वर को माना ही नहीं। बुद्ध ने

अपने समय में आत्मा को भी अस्वीकार कर दिया। इसका समाजपक्ष यों था–

१] चातुवर्ण्य की व्यवस्था की आवश्यकता ने प्रथम दर्शन को जन्म दिया।

२] जातीय अन्तर्भुक्ति ने दूसरी प्रणाली का विकास किया।

३] क्षत्रिय विद्रोह ने तीसरी व्यवस्था स्थापित की।

४] क्षत्रिय-वैश्य विद्रोह ने थोथी प्रणाली नियत की।

५] दास प्रथा के स्वामी वर्ग ने ब्राह्मणों के विरुद्ध विद्रोह किया और उन समस्त सिद्धान्तों को काटा जिनमें ब्राह्मण प्रभुत्व था, या दास अपने उत्थान का मार्ग ढूँढ़ते थे। पाँचवीं परिस्थिति का दर्शन क्रमशः विकास में उपस्थित हुआ।

६] इन दर्शनों के बाद ही वे प्रसिद्ध दर्शन भारत में मिलते हैं जिन्हें दर्शन कहा जाता था बौद्ध दर्शन को जो महत्त्व दिया गया है, वह बाद की बात है। पहले बुद्ध के मत को दर्शन नहीं माना जाता था। असङ्ग, धर्मकीर्ति और नागसेन आदि ने ही बुद्धमत को दर्शन का रूप दिया था। वे प्रसिद्ध दर्शन षट् दर्शन थे। षट् दर्शन का विकास एक दिन में नहीं हुआ। ६ ओं दर्शन अंततोगत्वा विचार के क्षेत्र में एक दूसरे के पूरक माने गये हैं।

न्याय दर्शन तर्क पर आधारित है। पहले श्रद्धा और विश्वास को लेकर काम चलता था। परन्तु जब सामंतीय युग का उदय हुआ तब हमें सर्वप्रथम तर्क मिलता है। बलदेव उपाध्याय ने अपने भारतीय दर्शन (पृ० २२६) में न्याय के विषय में लिखा है, "न्याय का व्यापक अर्थ है—विभिन्न प्रमाणों की सहायता से वस्तु तत्त्व की परीक्षा।......इसका दूसरा नाम है—आन्विक्षिकी द्वारा प्रवर्तित होने वाली विद्या। अन्वीक्षा का अर्थ है—(१) प्रत्यक्ष तथा आगम पर आश्रित अनुमान अथवा (२) प्रतीक्ष तथा शब्द प्रमाण की सहायता से अवगत विषय की अनु (पश्चात्) ईक्षा (ईक्षण×पर्य्यालोचन–ज्ञान) अर्थात् अनुमिति। अन्वीक्षा के अनुसार प्रवृत्त होने से इस विद्या का नाम आन्वीक्षिकी है। अनुमान प्रक्रिया में हेतु का महत्त्व सबसे अधिक होता है, अतः इसका नाम हेतु विद्या या हेतु शास्त्र भी है। विद्वानों की परिषद् में किसी गूढ़ विषय के विचार या शास्त्रार्थ को 'वाध्य' के नाम से पुकारते हैं।

न्यायदर्शन के प्रारंभिक आचार्यों का समय लगभग ५०० ई० पू० है। यही समय है जब कि सामन्तकालीन व्यवस्था का उदय हो रहा था। एक ओर न्याय अपने आधार में तर्क पर आश्रित था तो दूसरी ओर वह मीमाँसा का भी प्राचीन रूप था। मीमांसा वैदिक कर्म काण्ड विषयक श्रुतियों के पारस्परिक विरोध का परिहार करती है। प्राचीन वैदिक कर्मकाण्ड पर से जब आस्था उठी तो उस समय उस सब को न्याय्य प्रमाणित करने की चेष्टा भी हुई। न्याय के दो रूप प्रगट हुए। न्याय आस्तिक दर्शन है, वेद का प्रमाण वह स्वीकार करता है। जब वह श्रौत आचार की परिधि के बाहर आया तब उसे मीमाँसा से भिन्न मानने लगे। अर्थात् श्रौत आचार परकता को मीमांसा की संज्ञा मिली।

न्याय दर्शन का प्रवर्त्तक अक्षपाद को माना जाता है, जो मिथिला के निवासी माने जाते हैं। मिथिला जनक अश्वल और याज्ञवल्क्य के समय से ही बड़ी चर्चाओं की भूमि थी। न्यायसूत्र निश्चय ही ईसा से तीन चार सौ बरस पहले के बने हुए हैं।

क्रमशः वैशेषिक दर्शन का उदय हुआ, और सांख्य, योग दर्शन का विकास होने के बाद उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदांत का विकास हुआ जो कालदेश के अनुसार बढ़ता घटता नये नये रूपों में नयी नयी व्याख्या धारण करता, दर्शन और भक्ति का समन्वय करता रामानुज तथा उनके बाद भी चलता रहा।

यहाँ हमें दर्शनों पर विस्तार से विचार करना आवश्यक नहीं है। हमने देखा कि दर्शन का भी विकास देशकाल की परिस्थिति के अनुरूप ही हुआ है। वेदांत अपने एक रूप में शंकर के हाथों में जाकर बौद्ध शून्य वाद को आत्मसात् करता है और वही आगे चल कर भक्ति के माध्यम से जन समाज के लिये तत्कालीन परिस्थितियों में मुक्ति का मार्ग खोलता है।

पहले जो सामन्तीय विकास भाग्यवाद के विरुद्ध उठा, वह आत्मा को प्रभुत्व देकर उठा। साथ-साथ बौद्धों का अनात्म भी चला। परन्तु बौद्ध दर्शन ने शून्य के माध्यम से उच्च वर्गों के उस भाग का पक्ष लिया, जो कि ह्रास प्राय थे। उसने जब-जब परिवर्त्तन किया, तब-तब वह समाज पक्ष छोड़ कर अधिकाधिक वैयक्तिक होता गया और यही कारण था कि वह अन्ततोगत्वा

जाकर वाममार्ग में डूब गया। और उसने अपने आपको खो दिया।

बाकी दर्शनों ने अपना रूप बदला तो सामाजिक पक्ष पकड़ा। काव्य में भी दर्शन अपना प्रभाव डालता रहा है। मध्यकालीन काव्य का तो काफी अंश केवल दर्शन सम्बन्धी ही है। दर्शन की जो सूझें कबीर में मिलती हैं, वे अपने सामाजिक संदर्भ में बहुत ही मर्मस्पर्शिनी बनी हैं। उनका प्रभाव आज भी अच्छा लगता है। कबीर ने दर्शन के ही सहारे निम्नवर्ग को उठाने की चेष्टा की थी, इसीलिये उसने ज्ञानमार्ग को इतना महत्त्व दिया था।

इ] कबीर ने जनभाषा को अपनाया था। इसी कारण उसने कहा था—

संसकिरत है कूप जल
भाषा बहता नीर।

भाषा के गतिमान होने के सत्य को कबीर ने अनजाने ही पहँचान लिया था। कबीर समाज के जिस वर्ग से आया था, उसमें संस्कृत का प्रचलन नहीं था। यही कारण है कि कबीर को जन-भाषा का ही सहारा अपनाना पड़ा। संसार के दूरदर्शी नेताओं ने सदैव जन-भाषाओं को अपनाया था।

जिस समय वैदिक संस्कृत का प्रचलन समाप्त हो रहा था और लौकिक संस्कृत समाज की प्रचलित भाषा बन रही थी, उस समय ब्राह्मणों ने इसी भाषा को अपनाया और इसमें अपने ज्ञान के भण्डार को प्रस्तुत किया। बुद्ध क्षत्रिय थे। वे जानते थे कि वे संस्कृत में अपनी बात कहकर ब्राह्मणों से जीत नहीं सकेंगे, इसीलिये उन्होंने जनभाषा पर जोर दिया, क्योंकि उनके समय तक लौकिक संस्कृत उच्च वर्णों की भाषा हो चुकी थी और दूसरा कारण यह भी था कि वे गण में थे जहाँ प्राकृत और पाली का प्रचार अधिक था, क्योंकि संस्कृत का प्रभाव ब्राह्मण विरोधी गण अधिक नहीं मानते थे। मगध के जिन राजवंशों ने उनका प्रभाव स्वीकार किया, वे पुरानी आर्य्येतर परम्पराओं के विकसित रूप थे और बुद्ध के बाद तो वहाँ शूद्रों ने अपना सिर उठाया था, जिनकी शक्ति का प्रतिनिधि नन्दवंश था। जब अपभ्रंश का प्रचलन हुआ तब भोज राजा ने अपने दरबार में भी उसको मान्यता दी और हाल और गुणाढ्य की परम्परा खूब पल्लवित हुई।

एक ओर जहाँ आर्य्येतर विश्वासों की अन्तर्भुक्ति का रूप संस्कृत के रूप में विकसित हो रहा था, और तन्त्र आदि संस्कृत में लिखे जा रहे थे, दूसरी ओर सिद्ध तथा नाथ कवि जनभाषा का सहारा ले रहे थे।

स्वयं तुलसीदास को जनभाषा को अपनाना पड़ा था, क्योंकि पण्डित वर्ग संस्कृत का पल्ला पकड़े हुए था। तुलसी को इसके लिये कितना विरोध सहना पड़ा था, यह कौन नहीं जानता। विद्यापति को तो भाषा के विषय में कहना पड़ा था—

बालचन्द विज्जावइ भासा
दुइ नहिं लागइ दुज्जन हासा।

कालान्तर में स्वामी दयानन्द ने भी बहु प्रचलित जनभाषा हिन्दी को ही अपनाया और महात्मा गान्धी भी उसी परम्परा में हुए।

कहने का तात्पर्य यह है कि भाषा कभी स्थिर नहीं रहती और जैसा कि विद्वानों ने बताया है, वह अपने आप विकास करती है। किन्तु साहित्य और भाषा का यह सम्बन्ध कुछ जटिलता लिये रहता है। जनभाषा तो धीरे-धीरे बदलती ही है, साहित्य की भाषा और भी धीरे बदलती है।

आज की हिन्दी में भगवतीचरण वर्मा, बच्चन और दिनकर सरल भाषा लिखते हैं, परन्तु वे भी इतनी सरल नहीं लिखते कि सब ही उसे समझलें। यदि गहराई से देखा जाये तो उनसे अधिक कठिन भाषा कबीर और तुलसी में मिलती है। परन्तु वे अधिक समझ में आते हैं। इसका कारण भाषा नहीं, अभिव्यक्ति के रूप का प्रश्न है। भाव के प्रदर्शन की अभिव्यक्ति कबीर में कहीं कहीं तो बहुत ही गूढ़ अर्थ प्रस्तुत करती है, परन्तु चोट दिल पर पड़ती है और सहज ही बात समझ में आ जाती है। हिन्दी में लोग कभी-कभी कहते हैं कि छायावादियों ने भाषा का जो रूप पन्त, प्रसाद, निराला और महादेवी वर्मा के हाथों प्रस्तुत किया, वह फिर कभी नहीं मिला। हमारा नम्र निवेदन है कि इन कवियों की भाषा एक बहुत सुन्दर नक्काशी वाली सुराही की भाँति है, जो प्यास बुझाने वाले पानी की बूँद भी नहीं झेल सकती, जबकि सुराही का काम सबसे पहले पानी का भरना है और लोगों को पिलाकर उनकी प्यास बुझाना है।

उनकी भाषा उच्च वर्गीन भाषा नहीं कहला सकती, क्योंकि, हिन्दी इलाकों का कोई भी उच्च वर्ग वह भाषा अपने घरों में नहीं बोलता जो इन कवियों ने प्रस्तुत की है। अवश्य यह कहा जा सकता है कि शिक्षित लोग उस भाषा को लिखते समय प्रयुक्त करते हैं आभिजात्य वर्ग की भांति भाषा का भी एक आभिजात्य होता है। वह भी अपने आप नहीं बनता। उसके भी विकास की शृङ्खला होती है। तुलसीदास ने ही तद्भव प्रधान हिंदी को तत्सम प्रधान बनाया था। उनसे पहले के हिन्दी काव्य में देसज शब्दों की भरमार ही मिलती है। तुलसीदास और केशवदास ने ही देसज शब्दों के साथ तत्सम प्रधानता को प्रश्रय दिया था। केशव दरबारी कवि थे, अतः उनकी भाषा और भी कठिन रही। तुलसी धर्मगुरू के समान थे और उन्हें अपनी भाषा को जनता को समझाना भी आवश्यक था।

वह परम्परा हिंदी में रीति कवियों के हाथों में खूब फली फूली। भारतेन्दु हरिचन्द्र ने उस परम्परा को नहीं पकड़ा। भाषा के विषय में उन्होंने कबीर वाले रास्ते को पकड़ा। परन्तु उनके बाद राष्ट्रीयता के विकास ने मध्य वर्ग को आगे उठाया और सामन्त काल में जहाँ जनभाषा और आभिजात्य भाषा दोनों साथ-साथ चलती थीं वहाँ, पूँजीवाद के अभ्युदय काल में आभिजात्य भाषा का ही विकास हुआ और उसने अपना प्रभाव शीघ्र ही जमा लिया।

हिंदी की मर्यादा धीरे-धीरे राष्ट्र भाषा का पद पाने को लालायित हो रही थी। उसको नये नये शब्दों की भी आवश्यकता थी। इस प्रकार जो भाषा बनी उसने छायावादियों के हाथों में पारिमार्जन प्राप्त किया।

क्योंकि पहले कविता के विविध क्षेत्र थे, उसमें भाषा में भी विविधता का आना आवश्यक था। किंतु छायावाद में मानस जगत की गहराइयों का ही सवाल था, और व्यक्ति ही उसका मूल था, उसकी भाषा से वैविध्य लुप्त हो गया और कठिनता ने उसे ग्रस लिया। उसका जनता से तादात्म्य नहीं था। छायावादी कविता अब भी केवल विद्यार्थियों के काव्य की वस्तु है और दुर्भाग्य से विद्यार्थी भी उसे पूरी तरह नहीं समझते।

आज जनभाषा से अधिकाधिक तादात्म्य की आवश्यकता है क्योंकि व्याप-

कता की सबसे पहली मांग यही है। किंतु हम ऊपर कह आये हैं कि आवश्यकता का अर्थ यह नहीं होता कि रातों रात भाषा बदल जाये। भाषा का साहित्यिक रूप धीरे-धीरे बदलता है, और वह बदलता जायेगा, चाहे आज उसे संस्कृत से लादने का भीमतम प्रयत्न क्यों न हो रहा हो। ऐसे प्रयत्न अंत में शब्दकोषों में समाप्त हो जाते हैं। भाषा के पुराने रूपों को जब आत्मसात् कर लेने की चेष्टा होती है, तब नये के साथ पुराने रूप भी आते हैं। ऐसी चेष्टा बहुधा संधियुगीन परम्पराओं में होती है। मानस लिखने वाले तुलसी दास को भी विनय पत्रिका लिखनी पड़ी थी। उसके दो ध्येय थे। एक तो तुलसीदास ने इस ढङ्ग से संस्कृत की स्तुतियों को हिंदी में ढाल दिया, दूसरे वे संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे, और उनका संस्कृत के प्रति मोह होना भी स्वाभाविक ही था। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने भी खड़ी बोली के साथ ब्रजभाषा में रसकलश लिखा था। एक तो वे रीतिकालीन परम्परा के प्रति आसक्त थे, दूसरे पुरानी भाषा के प्रति उन्हें आकर्षण था। 'प्रसाद' विकास के समय हुये थे। वे पहले ब्रजभाषा में लिखते थे, बाद में खड़ी बोली में लिखने लगे और उन्होंने फिर ब्रजभाषा की ओर नहीं देखा।

हिन्दी की समस्या इससे भी बड़ी है। हिंदी इलाका एक भाषा का नहीं है। हिंदी की तो कई बोलियाँ हैं। राजस्थानी, ब्रज, अवधी, मैथिली, भोजपुरी, बघेली और बुन्देली तो काफी बड़े इलाकों की बोलियाँ हैं। हिंदी साहित्य का इतिहास एक बोली का इतिहास नहीं है, कई बोलियों का इतिहास है। दुर्भाग्य से हमारे आलोचक खड़ी बोली के वर्त्तमान उदय के पूर्व तो सभी बोलियों के बारे में लिखते हैं, परन्तु जब वर्त्तमान काल का वर्णन करते हैं तब केवल खड़ी बोली ही उनकी दृष्टि के सामने रह जाती है। ऐसा करना ठीक नहीं है। वे समझते हैं कि इतिहास के विकास ने जिस ऐक्य की स्थापना कर दी है, अब उसे लौटाने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु वे ऐक्य के विषय में यह भूल जाते हैं कि यह ऐक्य अभी तक मध्य वर्ग तक सीमित है, जब कि साहित्य का लक्ष्य उन कोटि कोटि लोगों तक पहुँचना है, जो कि वास्तव में कृषक और श्रमिक जनता है। तुलसीदास ने इस तथ्य को पहचाना था। तभी उन्होंने ब्रज भाषा और अवधी, दोनों में ही अपने साहित्य की रचना की। मध्यकालीन

कवियों में, और विशेष करके संतों की रचनाओं में तो उन भौगोलिक प्रदेशों की भाषाओं का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है, जिनमें वे कभी जाकर रहते थे। परवर्त्ती भक्त कवि घनानन्द ने तो पंजाबी के भी प्रयोगों को हिंदी में स्थान दिया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में भी बोलियों का वैविध्य मिलता है। विशुद्धतावाद उनके बाद ही हिंदी में घुसा और उसने तुलनात्मक व्यापक क्षेत्र के दृष्टिकोण से खड़ी बोली को आगे बढ़ाया।

हिंदी काव्य के कम बिकने का कारण जहाँ एक ओर अशिक्षा है, दूसरी ओर काव्य भाषा की बहुतायत से क्लिष्टता है, तीसरी ओर यह भी है कि खड़ी बोली का क्षेत्र यद्यपि बहुत बड़ा है, परन्तु वह अभी बोलियों का स्थान नहीं ले सकी है। कोई कारण समझ में नहीं आता कि जिन बोलियों में अभी अपना विकास करने की शक्ति है, उन्हें विकास क्यों नहीं करने दिया जाये। हिंदी का वर्त्तमान स्वीकृत रूप उससे तो अधिक समृद्ध ही होगा। मेरे एक मित्र, आगरे के प्रसिद्ध आलोचक तो स्तालिन के उद्धरण देकर प्रमाणित करने लगे कि जब भाषाएँ पास आ रही हों तो उन्हें रोकना नहीं चाहिये। मेरा विनम्र निवेदन है कि वे स्तालिन को अपमानित करने के दूसरे तरीके ढूँढ़ लें तो अच्छा होगा। स्तालिन ने कहा है कि संसार में अंततोगत्वा एक भाषा होगी। परन्तु वह तब ही संभव होगा जब संसार की विभिन्न भाषाएँ अपना विकास कर चुकेंगी और उन सबसे कालांतर में एक नयी भाषा जन्म लेगी, या छोटी छोटी भाषाएँ किसी एक बड़ी भाषा में अन्तर्भुक्त हो जायेंगी। यह दृष्टिकोण तो भाषा विज्ञान के दृष्टिकोण से बिल्कुल ठीक है। स्तालिन ने यह तो नहीं कहा कि एक्य के नाम पर जनता को अपनी संस्कृति और भाषा को विकसित करने का अधिकार नहीं देना चाहिये। यदि वह ऐसा कहता तो रूसी भाषा को ही क्यों न जारकालीन एक्य की भांति समस्त सोवियत संघ पर लाद दिया जाता। यह याद रखना आवश्यक है कि हिन्दी प्रान्त के निर्माता उन बोलियों की सत्ता को अस्वीकार कर रहे हैं, जिनके कि बोलने वालों की संख्या करोड़ों तक पहुँचती है।

राज्यस्थानी का साहित्य तो बहुत ही सुन्दर है और स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उसे सुनकर कहा था कि यदि वे अपने जीवन काल के प्रारम्भिक दिनों

में उसके काव्य से परिचय प्राप्त कर लेते तो संभवतः उनकी कविता आगे चल कर कुछ दूसरे ही प्रकार की होती। हिंदी में तो बोलियों का परस्पर झगड़ा ही नहीं रहा है। यह सच है कि सब बोलियों का साहित्य एक साथ ही अपना महत्त्व नहीं दिखा सका है। इतिहास के विभिन्न समयों में विभिन्न बोलियों ने जोर पकड़ा है। केवल ब्रजभाषा ही एक भाषा है, जो संभवतः, यदि हिंदी से बाहर निकाल ली जाये, तो हिंदी सूनी हो जाये।

यह बोलियाँ बढ़ेंगीं तो अपने आप हिंदी अपने उस व्यापक स्वरूप को पकड़ेगी, जिसमें कालांतर में सब बोलियाँ अंतर्भुक्त हो जायेंगी। इसमें कितना समय लगेगा, इसे कोई नहीं कह सकता। बोलियों के गद्य के विकास की समस्या बहुधा उठाई जाती है। किन्तु यह बोलियाँ मृत नहीं हैं, जीवित हैं। इनको बोलने वाली जनता गद्य में ही बात करती है और उसके पास अपने मुहाविरे भी हैं।

प्रश्न उठता है कि यदि यह बोलियाँ अपना विकास करेंगी तो हिन्दी का क्या होगा।

यह प्रश्न ही निराधार है। हिन्दी का यह रूप अन्तर्बोली प्रदेशों में निरन्तर प्रयुक्त होता रहेगा। प्रस्तुत हिंदी तो मेरठ भू भाग की बोली है। इसे उधर की ही बोली स्वीकार करना वैज्ञानिक ढङ्ग कहला सकता है।

हिन्दी और उर्दू की समस्या भी इससे हल्की नहीं हैं, यद्यपि अन्य प्रांतों के लोग इसमें कोई दिलचस्पी नहीं लेते। अधिकांश तो बोलते समय हिन्दी और उर्दू का भेद भी साफ-साफ नहीं कर पाते।

इस विषय पर हम अत्यन्त विस्तार से प्रकाश डाल चुके हैं।१—यहाँ संक्षेप में इतना ही कहना अलं होगा कि उर्दू फ़ारसी गर्भित हिन्दी है और उसे नागरीलिपि में हिन्दी साहित्य में स्वीकार कर लेना चाहिये।

काव्य इस प्रकार समृद्ध होगा और नयी भाषा का रूप धारण करेगा जो जग-गण-मन के समीपतम होगी।

ई] कुछ प्रगतिवादियों का विचार है कि "आज जनता का सांस्कृतिक स्तर स्वयं बहुत ऊँचा नहीं है, इसलिये प्रगतिवादी कला के शरीर में धूल लगी

१—देखिये लेखककृत : प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड।

हुई है और रुक्षता है, किन्तु उसकी नसों में शुद्ध रुधिर की धार बहती है और उसकी मांसपेशियाँ पुष्ट होती जा रही हैं। जनता के संघर्ष में उसका साथ देती हुई, सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाती हुई स्वयं प्रगतिवादी कला अपना रूप निखार रही है और अपने को शक्तिमान बनाती जायेगी।"२

कला के शरीर में धूल लगी रहना प्रतीक के रूप में तो ठीक है, किन्तु इसकी आड़ में वह टुटपुँजियापन नहीं छिपाया जा सकता जो कि कुत्सित समाजशास्त्रियों की देन है। आभिजात्यकला को श्रेष्ठ समझने की मूल प्रवृत्ति इस तथ्य में निहित है। क्या यह आश्चर्य्य नहीं कि जनता के सांस्कृतिक स्तर के भिन्न रहते हुए भी मैक्सिमगोर्की की कला में धूलि लगी हुई नहीं है? जो केवल मायकोवस्की का उदाहरण देते हैं वे भूल जाते हैं कि मायकोवस्की ने मनुष्य को सांगोपांग रूप से नहीं देखा था, जो कि गोर्की ने निस्संदेह देखा था। कला में धूल लगने का तो कोई अर्थ ही नहीं। जनता के लेखक प्रेमचंद की कला में क्या धूलि लगी है? अमेरिका के प्रसिद्ध उपन्यासकार हावर्डफ़ास्ट क्या धूल लगी कला प्रस्तुत करता है? क्या जनकाव्य के रूपों को हम केवल गन्दा ही कह सकते हैं?

ऐसी व्याख्या तो मध्यवर्गीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है, जिसकी पृष्ठभूमि में यह स्वीकार किया जाता है कि कला वही श्रेष्ठ है जो प्रयोगवादियों में पाई जाती है। यदि नक्काशी ही कला है तो संस्कृत के आचार्य्यों का वह तथ्य-निरूपण ठीक है कि ऐसी कला अधम काव्य की कोटि में ही आती है। किंतु यह भी अधम काव्य ही की कोटि है कि हम वस्तु विषय को ही महत्त्व दें, उसके प्रगटीकरण के रूप को नहीं दें। कला और वस्तु के बीच का यह भेद शब्द और अर्थ के बीच दीवार खींच देने के समान है, जो कि वस्तुतः नहीं होना चाहिये।

मनुष्य का सौन्दर्य तो स्वस्थरक्त और दृढ़ मांसपेशियाँ ही हैं। जब कला इतनी सुन्दर है तो धूल धूसरित होने की बात कहकर क्या सौन्दर्य्य को प्रस्तुत करने के ढङ्ग को आप ही अनगढ़ प्रमाणित नहीं किया गया है?

वस्तु और वर्णन का सामंजस्य ही सुन्दर काव्य को जन्म देता है। किसी

२—नई चेतना, पृ० २०, अङ्क ५, वर्ष १९५१।

भी मत या उद्धरण से यह आप्तसत्य झूंठा नहीं हो सकता कि काव्य स्कूल की किताब नहीं है, वह कोर्स का विषय नहीं है, जो शिक्षा प्रसार के लिये लिखा जाता हो।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जब अपना विद्यालय चलाया था, तो उनके सामने बालकों की शिक्षा का प्रश्न आया। पहले जो पुस्तकें थीं उनमें उन्हें नीरसता दिखाई दी। तब उन्होंने छोटे से छोटे बच्चे के लिये कविताएं लिखीं और उनको पढ़ने के लिये अपने विद्यालय में प्रयुक्त किया। बच्चों को उन कविताओं में बड़ा आनन्द आया। किन्तु उनका वह काव्य महान काव्य नहीं कहला सकता। वह आवश्यक काव्य था, एक प्रकार से आवश्यकता के लिये लिखा गया था। बहुधा प्रगतिवादी काव्य ऐसा ही है। किन्तु काव्य ऐसा नहीं होना चाहिये। हुक्म पर लिखी गई कविता, या ज़रूरत पूरी करने को रची गई कविता को हम तब ही उत्तम काव्य कह सकते हैं जब उसमें लेखक की अनुभूति पूर्णतया मिल गई हो। अपनी अनेक साधारण कोटि की कविताओं में मायकोवस्की ऐसी हुक्मी रचनाओं में से अपनी प्रसिद्ध 'लेफ्ट मार्च' नामक कविता लिख गया था। १९१८ ई० में लाल सेना के मल्लाहों के प्रति उसने यह कविता लिखी थी।

मायकोवस्की तो पास की बात है। अपने सूरदास मन्दिर में रहते थे। वे सुबह से लेकर रात तक कृष्ण की परिचर्य्या करते थे। सुबह उठने से लेकर, दांतुन, मंजन, स्नान, शयन आदि जो भी कृष्ण की दिनचर्य्या थी, कहते हैं वे हर विषय पर नित्य एक नया पद गाकर सुनाया करते थे। वे भक्त थे, उन्होंने अपना जीवन ही उस एक भाव में लगा दिया था, जैसे मायकोवस्की ने क्रांति में लगा दिया था। परन्तु क्या सूरदास की सब ही कविताएं सुन्दर बन सकी हैं। नहीं। बहुत सी कविताएं तो केवल छन्द बद्ध पद्य हैं, और इससे अधिक उनका कोई मूल्य नहीं।

यह माना जा सकता है कि कोई व्यक्ति एक ही भाव में अपने को रमा दे। स्वयं तुलसीदास ने अपने को रामभक्ति में लगा दिया था। उन्होंने गीतावली, कवितावली, मानस, बरवै, दोहावली, सब में घुमा फिराकर वही राम कथा गाई। परन्तु क्या सब में एक सा वेग और शक्ति मिलती है?

नहीं। काव्य, कला और शास्त्र के उपर्युक्त विवेचन में यहाँ यह और जोड़-कर रखना आवश्यक है कि कवि की प्रतिभा का स्फुरण तब होता है जब अपने आप उसे समाज के प्रति अनुभूति होती है और अनुभूति होने के साथ ही वह अच्छी रचना भी दे सके, यह आवश्यक नहीं है। कभी-कभी कवि देखता है और हाल के हाल नहीं लिख पाता। बात धीरे-धीरे उसमें उतरती है, रम जाती है, उसकी अपनी हो जाती है और तब वह जो बात कहता है वह अत्यंत सुन्दर बनकर प्रगट होती है। जो काव्य की वस्तु को उसकी कला से अलग करके देखते हैं वे वास्तविकता को नहीं देखते। उन्हें प्राचीन का तो मोह होता है और युग की परिस्थितियों के इस भय से कि कहीं प्रगति विमुख न कहलायें वे बात नवीनता की करते है।

सौन्दर्य के दो पहलू हैं :—

१] वाह्य

२] अन्तस्थ।

केवल वाह्य सौन्दर्य देखना कभी-कभी खतरे से खाली नहीं होता। अत्यन्त सुन्दरी, सुसज्जित वेश्या को देखकर वाह्य रूप तो अच्छा लगता है, परन्तु मन भीतर ही भीतर डरता है। कौन नहीं जानता कि वह दलित है, अपने आप में बुरी नहीं। परन्तु व्यवस्था ही उसे कुटिल होने की विवशता देती है। सम्भवतः वह रोग का घर भी है। दूसरी ओर कुलस्त्री है। गरीब है, सुन्दर भी नहीं है, किन्तु आप उसका अधिक सम्मान करते हैं। क्यों? क्योंकि समाज की व्यवस्था उसे मान देती है। आप उसमें एक साधना, एक पवित्रता देखते हैं। वह दरिद्रता को पसन्द करती है, परन्तु अपने को बाज़ार में बिकने की वस्तु नहीं बनाती। अपने मानवी गौरव की रक्षा करती है।

सौन्दर्य्य का यह अन्तस्थरूप है।

यही प्रश्न कला के रूप का भी है। कला केवल वाह्यसज्जा नहीं है। वह तो आन्तरिक सौन्दर्य्य से सम्बन्ध रखती है। इसीलिये प्रगतिशील साहित्य की वाह्यसज्जा के साथ हमें उसका आन्तरिक सौन्दर्य्य भी देखना आवश्यक है।

भावजगत में वाह्य और अन्तस्थ एक हो जाते हैं। वहाँ भेद नहीं रहता। सामंजस्य का यह समुद्र अपार है और इसकी तीरभूमि पर खड़ा हुआ व्यक्ति

इसकी गहराई को सहज ही नहीं नाप सकता। प्रगतिशील आलोचक कभी कभी अभिव्यञ्जना को आभिजात्य कहकर शोषक वर्गों का हथियार कह देते हैं। वे भूल जाते हैं कि अभिव्यञ्जना सदैव ऐसी नहीं होती। उसका भी साहित्य में अपना स्थान है, परन्तु अति किसी की भी अच्छी नहीं होती। यदि अभिव्यञ्जना अपने को सापेक्षरूप में नहीं रखती, वस्तु के ऊपर केवल वर्णन-शैली को पकड़ती है तो वह केवल वेश्या की सज्जामात्र बन जाती है, अपने नारीत्व की मर्यादा को नहीं समझ पाती।

काव्य में सुन्दरता तो संतुलन का नाम है। प्रवृत्ति आधार होती है, भाव उस पर विकास करता है। भाव से विचार बढ़ता है। काव्य में तीनों का स्थान है।

एक कथा है। एक स्त्री का पति मर गया है, परन्तु उसे रोने का भी अवकाश नहीं है। वह तो अपने बालकों के लिये उस समय अपने मृत पति की जरसी का ऊन उधेड़ रही है, ताकि ठण्ड से ठिठुरते बच्चों के लिये कपड़े बना सके। बस।

लेखक और कुछ नहीं कहता। किन्तु कितनी बड़ी वेदना है कि अपने आप आकर आँखों के सामने खड़ी हो जाती है। यदि लेखक अभिधाप्रधान व्यञ्जना को लेकर चलता तो क्या वह इसी प्रकार की गहरी अनुभूति को जगा सकता था? क्या वही यातना उसके कह देने से भी जाग्रत होती, जो पाठक को हिला देती है? क्या पाठक की मानवता तब उस स्त्री की आँख से ढुलके एक आँसू के लिये तड़प तड़प नहीं उठती? हमें इस सबको ध्यान में रखे बिना अपनी कला सँवारने का रूप मिलेगा भी कैसे?

: ७ :

अ] काव्य के लिए श्रेय क्या है और प्रेय क्या है, इस पर बहुत पुराना विवाद चल रहा है। कुछ लोग कहते हैं कि श्रेय और प्रेय का तो द्वन्द्व है। दोनों एक नहीं हो सकते। श्रेय समाज की मर्यादा से निर्धारित होता है और प्रेय मन के सुख की वस्तु है। समाज अपनी नियमावली से चलता है। वह अच्छे और बुरे की नैतिकता को लेकर चलता है। और वह जिसे नैतिकता कहता है, वह कोई चिरंतर वस्तु नहीं है। वह तो परिवर्त्तनशील होती है। एक समय की नैतिकता दूसरे युग में अपना वही मूल्य नहीं रखती। और प्रेय वही है जो व्यक्ति को पसन्द आता है। व्यक्ति की मूलभूत रुचियाँ प्रकृत होती है और वे प्रत्येक युग में एकसी ही होती हैं। अतः उन पर लिखना अच्छा होता है, क्योंकि युग के परिवर्त्तन की बात उस पर अपना सबसे कम प्रभाव डालती है।

यदि हम इसका गम्भीरता से विश्लेषण करें तो तथ्य सामने यों उपस्थित होते हैं:

(१) श्रेय नैतिक मानदण्डों पर आश्रित होते हैं।

(२) प्रेय व्यक्ति की रुचि पर आश्रित हुआ करते हैं।

(३) श्रेय अधिक परिवर्त्तनशील हैं।

(४) प्रेय कम से कम परिवर्त्तनशील हैं।

(५) श्रेय एक लदी हुई भावना का व्यक्तीकरण है।

(६) प्रेय मन की बात है जो व्यक्ति की अनुभूति से अपना तादात्म्य स्थापित करके जन्म लेती है।

(७) श्रेय और प्रेय का यह द्वंद्व वास्तव में व्यक्ति के उस स्वातन्त्र की चेष्टा है, जो कि समाज की रूढ़ मर्यादाओं के नीचे कुचल नहीं जाना चाहता, अपनी वैयक्तिकता को जीवित रखना चाहता है।

किन्तु इन सब में थोड़ी-थोड़ी सचाई होने पर भी समस्या को प्रस्तुत करने का यह ढंग वैज्ञानिक नहीं है।

हमारे श्रेय के नैतिक मानदण्ड ऐसे नहीं होते कि वे परिवर्त्तनशील न हों, या कभी-कभी लदे हुए न हों। यह प्रश्न तो खंड सत्य को देखता है। प्रश्न यह है कि क्या वह विशेष नैतिकता सामाजिक व्यवहार में जन्म नहीं लेती? क्या समाज की व्यवस्था विशेष ही उसका निर्माण नहीं करती? करती है। तब समाज की व्यवस्थाजन्य नैतिकता को यदि आगे चलकर रूढ़ रूप में पाया जाये तो आश्चर्य ही क्या? एक समय अज्ञान के कारण सारा समाज उस रूढ़ नैतिकता की दुहाई देकर नये विकास को रोकने की चेष्टा करता है। उस समय नया विचार रखने वालों को पत्थर मारे जाते हैं। संसार के किस महा-पुरुष का प्रारम्भ में अपमान नहीं किया गया? यह तो एक सार्वजनिक सत्य है कि जब समाज में कोई व्यक्ति परिवर्त्तन करता है तो पहले उसे विरोध ही सहना पड़ता है।

परन्तु क्या प्रेय सचमुच ऐसी वस्तु है जिसका श्रेय से कोई सम्बन्ध ही नहीं है? मनुष्य की प्रकृत चेष्टाओं और आकांक्षाओं का वर्णन ही तो साहित्य नहीं है। उनका तो साहित्य से वहीं तक का सम्बन्ध है जहाँ तक उनका सहज भाव से सम्बन्ध है।

प्रेय वहाँ तक श्लाध्य है जहाँ तक स्वातन्त्र्य के नाम पर उसमें अनर्गलता प्रारंभ नहीं होती, वह जो कि अन्ततोगत्वा व्यक्ति वैचित्र्य की भी निकृष्ट कोटि में परिगणित नहीं होती। एक का प्रेय यदि दूसरे के प्रेय का हनन करता है तब तो निश्चय ही एक ऐसी मर्यादा की आवश्यकता पड़ेगी, जो किसी सीमा के निर्धारण में अपनी-अपनी स्वतन्त्रता का संरक्षण बन सके, अन्यथा उसका तो विकास ही संभव नहीं हो सकेगा।

श्रेय किस प्रकार समाज के नाम पर प्रेय का अस्तित्व ही मिटाता है इसका प्रमाण अभी सोवियत् साहित्य में मिलता है, जिसमें जीवन की एकरसता ने अपना प्रभुत्व जमाया है। प्रेय व्यक्ति की प्रतिभा का क्षेत्र है। उसे दबाना काव्य की हत्या करना है।

प्रेय और श्रेय का समुचित सामंजस्य ही उचित है क्योंकि एक से ही दूसरे की उन्नति संभव है।

(१) प्रेय व्यक्ति का आनन्द है।

(२) किन्तु व्यक्ति के आनन्द को समाज के कल्याण भाव से टकराना नहीं चाहिये।

(३) इसका यह अर्थ नहीं कि समाज की रूढ़ व्यवस्था का विरोध नहीं करना चाहिये।

(४) विरोध वैयक्तिकता के उस क्षुद्र स्वार्थ में समाप्त होने वाला नहीं होना चाहिये, उसके भीतर समाजहित का ही व्यापक प्रश्न होना चाहिये।

(५) लोक और व्यक्ति के स्वातन्त्र्य का पारस्परिक अन्योन्याश्रय ही श्रेय और प्रेय का योग्य पारस्परिक सम्बन्ध है, जो आगे के लिये पथ बनाता है।

(६) आदर्श व्यवस्था तो वही है, जहाँ श्रेय और प्रेय में भेद ही नहीं है। किन्तु बहुधा आदर्श व्यवस्था के भ्रम में दोनों का निरन्तर द्वन्द्व चला करता है। आदर्श व्यवस्था के नाम पर अधिकतर कुछ चालाक लोग जब रूढ़ धर्मावलम्बी होकर गुट्ट बना लेते हैं तब अनर्थ करने लगते हैं। ऐसे ही लोगों ने मायकोवस्की को मार डाला था। ऐसे ही लोगों ने हैदराबाद के हजारों किसानों को फौजों से लड़ाकर कटवा दिया था। ऐसे आदर्श लोगों की परख हाल के हाल कभी नहीं हो सकती। वह तो इतिहास की गति ही बतलाती है।

(७) इसीलिये वह प्रेय जो व्यक्ति के स्वार्थ के निकृष्ट रूप में सीमित नहीं हो जाता, उदात्त होता है, सदैव ही उसे ध्यान से देखा जाना उचित है। उसे निरंकुशता से दबाना, मनुष्य के ज्ञान को सीमित समझ लेने के बराबर ही है।

आ] काव्य में प्रतीक का आयोजन बहुत प्राचीन है। इसका प्रारम्भ मनुष्य के मस्तिष्क की उर्वरा शक्ति से हुआ और वह काव्य का एक विशेष अङ्ग ही बन गई। प्रतीक उसे कहते हैं जब किसी अन्य वस्तु के आधार पर किसी अन्य की ओर इङ्गित किया जाता है। प्रतीक रीतिकाव्य में बहुतायत से प्रयुक्त हुए। उस समय बुद्धि का विलास बहुत ही कौतूहल पूर्ण हो गया था। प्रतीक का आयोजन जब भावगरिमा से होता है तब तो वह सहज दिखाई देता

है, किन्तु जब प्रतीक ही काव्य बनने का दावा करने लगता है तब गड़बड़ होने लगती है।

प्रतीक काव्य का एक अलंकार मात्र है। और अलंकार देह नहीं हो सकता। तभी जो विभिन्न मत वादों में प्रतीकवाद भी अपना स्थान बनाये हुए है वह केवल काव्य का एक आंशिक रूप ही धारण करता है। प्रतीक में विचार प्राधान्य रहता है और इसीलिए उसमें भाव का सम्बन्ध बहुत कम होता है।

प्रतीक अधिकतर एक की समझ से दूसरे की समझ तक नहीं पहुँचते। स्वयं प्रसिद्ध रचना 'कामायनी' में भी यह दोष है। कहीं-कहीं वह अपनी व्यञ्जना में अत्यन्त दुरूह हो जाती हैं। एक व्यक्ति उसका एक अर्थ निकालता है, तो दूसरे को उसमें दूसरा ही अर्थ दिखाई देता है। इस तरह की परिस्थिति में भाव साधारणीकरण को प्राप्त नहीं हो पाता। कामायनी का सौंदर्य वहीं प्रस्फुटित होता है, जहाँ वह सम रूप से मन में उतरती चली जाती है।

प्रतीकवाद जब अपने को काव्य का पूर्णरूप समझता है, तब उसके मूल में यह व्यक्तिवाद निहित रहता है कि कवि का अहं अन्यों से कुछ भिन्न है, और वह तभी काम करता है, जब वाह्यपरिस्थिति से उस पर किसी प्रकार की कुण्ठा आघात करती है। वस्तुतः यह ठीक नहीं है। कवि का हृदय अधिक सचेत होता है। वह किसी वस्तु या तथ्य को देखता या उसका अवलोकन करता है। उसके मन पर उसका प्रतिबिंब पड़ता है। उस पर कुछ क्रिया प्रतिक्रियाएं होती हैं। और वह अपने भावों को प्रगट करता है। काव्य की शक्ति प्रायः सब में ही होती है। किसी में कम, किसी में अधिक। संवेदनात्मकता काव्य को जन्म देती है। प्रश्न उठता है सब में यह संवेदनात्मकता एक सी क्यों नहीं होती? सब में इसका एकसा न होने का कारण यह है कि सामाजिक जीवन में सब एक सी शक्ति नहीं रखते। कोई अपनी रुचि अपनी परिस्थितिवश एक ओर केन्द्रित करता है, कोई किसी दूसरी ओर। इसीलिये विभिन्नता उत्पन्न होती है। जिसमें समाज की गतिविधि में संवेदनात्मकता अधिक बढ़ जाती है, वही कवि हो जाता है और कवि का छोटा होना, बड़ा होना भी इसी संवेदनात्मक ग्राह्य शक्ति पर निर्भर होता है।

काव्य में यह एक अबाध सत्य है कि मनोरंजन की मात्रा होनी चाहिये। मनोरंजन के विविध रूपों का प्रगटीकरण हुआ है :—

(१) वह रचना जो केवल जिज्ञासा को जगाये।

(२) वह रचना जो जिज्ञासा और कौतूहल के साथ सामरस्य भी प्रस्तुत करे।

(३) वह रचना जो अद्भुत का सृजन करके चमत्कार में डुबाये रखना चाहे।

(४) वह रचना जो प्रवृत्ति की वासना को जगाकर मन को अपने में रमाये रखे।

(५) वह रचना जो ज्ञान विज्ञान के आश्चर्य्यों में महत् के सौंदर्य्य में तन्मयता जगाने की चेष्टा करे।

(६) वह रचना जो चुटकलों के हास परिहास का पुट देकर मन को हल्का करने के लिये प्रयत्न करे।

(७) वह रचना जो दर्शन के आधार लेकर उन्हें ऐसे प्रस्तुत करे कि कठिनतम वस्तु सहज बन कर उपस्थित हो जाये।

(८) वह रचना जो विषमता को यथातथ्य प्रस्तुत करके उसका हल निकाल कर आनन्द पहुँचाये।

(९) वह रचना जो किसी आदेश को उपस्थित करने के लिये सम्यक्रूप से जीवन के विभिन्न व्यापारों में विपरीत परिस्थिति का वर्णन करके आदर्श की ओर इंगित करे।

(१०) वह रचना जो सनसनी पैदा करे और अपने साथ सस्ती भावुकता का प्रचार करे।

इसी प्रकार कई रूप आज के साहित्य में प्रचलित हैं, जिनकी व्याख्या करना कठिन नहीं है। इनमें से अधिकाँश तो पुराने आचार्य्यों के द्वारा बताये रसों के अन्तर्गत आ जाती हैं, अतः उन पर फिर से लिखने की आवश्यकता नहीं है।

मनोरंजन व्यक्ति और सम्प्रदाय दोनों को लेकर चलता है। एक व्यक्ति

का ही मनोरंजन जिससे हो और अन्यों का न हो, उसे तो साहित्य के अन्तर्गत रखा ही नहीं जा सकता। अब 'कलाकला के लिये' वालों के इस प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक है कि आनन्द की मय्यादा क्या है? वह है या नहीं? क्या व्यक्ति का आनन्द संकुचित क्षेत्र में ही रह सकता है? क्या उसे नैतिकता अर्थात् अश्लील और श्लील के चक्रव्यूह में फँसना ही चाहिये?

आनन्द की मर्यादा तो आवश्यक है। आनन्द वहीं तक सीमित है जहाँ वह अन्यों पर हावी होकर उनकी स्वतन्त्रता का हनन नहीं करता। व्यक्ति के आनन्द का संकोच यह नहीं है कि वह दूसरों के आनन्द की तनिक भी चिन्ता नहीं करता।

नैतिकता का प्रश्न जहाँ तक वह यौन सम्बन्धोंको लेकर है, वह तो समाज की व्यवस्था के अनुरूप है।

महाभारत में जहाँ गालव माधवी को राजाओं के पास ले जाता है तब वर्णन करता है कि यह स्त्री गहरे स्थानों में गहरी है, उठे स्थानों में उठी है। फिर एक-एक राजा माधवी से एक-एक पुत्र प्राप्त करता है। अब यह व्यवस्था नहीं है, न इस प्रकार के वर्णन ही अच्छे माने जा सकते हैं। महाभारत में हिडिम्बी कुन्ती से जाकर उसके पुत्र को रमण करने के लिये मांगते समय कहती है कि हे कुन्ती! तुम तो स्त्री की पीड़ा जानती हो कि वह काम दुःख में क्या अनुभव करती है? कुन्ती तुरन्त पुत्र को उसे दे देती है। कुन्ती की पांडु से बातचीत और सत्यवती की भीष्म से जो बातचीत है वह भी आजकी तुलना में बहुत मुखर है। वह समाज और था जब पुरुष स्त्री से, और स्त्री पुरुष से सम्भोग की कामना, स्पष्ट कह दिया करते थे। बाल्मीकि रामायण में दशरथ कहते हैं कि हाय पुत्र बन जा रहा है, उसँका मनोरंजन करने को साथ में सुन्दर स्त्रियों को भेजो। महाभारत में कृष्ण सुभद्रा जैसी बहिन को योग्य बता कर अर्जुन को सलाह देते हैं कि इसका अपहरण कर। बाल्मीकि रामायण में जब रावण रम्भा से वलात्कार करता है तो पूछता है: सुन्दरी कौन तेरे कुचों का मर्दन करेगा, कौन तेरी जंघाओं पर रमण करेगा। श्रीमद्भागवत में सबके सामने ही कुब्जा कृष्ण का हाथ पकड़ कर कहती है: चल कर मेरी काम-पिपासा बुझाओ। परवर्ती संस्कृतकाल में तो कालिदास ने यौन मुखरता की

सीमा ही कर दी है। हाल ने भी कुछ कम नहीं लिखा है। रीति कवियों की तो बात ही क्या? आज भी कुछ कमी नहीं है, यद्यपि अब प्रतीकों का प्रयोग अधिक होता है, जायसी से भी अधिक। परन्तु हावर्ड फ़ास्ट जैसे लेखक में प्रतीक नहीं, स्पष्टता भी हैं। वह एक युवती को अश्वों के सम्बन्ध दिखाता है और स्पार्टाकस में यहूदी के खतने को उसे निस्सङ्कोच दिखाता है। वह एक हब्सी माता के विचार में यह भी रखता है कि कैसे वे विशालकाय पुत्र उसकी ही जंघाओं के बीच से निकलकर आये हैं।

यौन मुखरता तो रही है और है। मर्यादा की सीमा का अतिक्रमण बड़े-बड़े लेखक कर गये हैं। किन्तु यह इसीलिये हैं कि स्त्री को जब तक भोग्य समझा जाता है तब तक यह रहता ही है। यौन मुखरता वही अश्लील है जो किसी बर्बरता को पनपने का मार्ग देती है और कुत्सा की ओर मनको रमाती है। यौन जीवन का भी जीवन में एक स्थान है। उसे उसकी मर्यादा के अनुसार चित्रित करना चाहिये। उससे अधिक नहीं। उसे उपयोगितावाद और विशुद्धतावाद के बाने में, और कृत्रिम संयम में छिपाना भी नहीं चाहिये। उससे मन छिपे तौर पर उसी के विषय में सोचा करता है और व्यक्ति को कामुक बना देता है। निस्सन्देह समाज की प्रचलित व्यवस्था का प्रभाव काफी होता है। परन्तु मानवीय कल्याण के लिये उन लघु कृत्रिमताओं को निभाना ठीक नहीं, जो वास्तविक श्लीलता को रोकती हों।

फ्रायडवादी यही मानते हैं कि समाज के बन्धन व्यक्ति की काम भावनाओं को रोकते हैं। परन्तु वाह्य और प्रगट रूप से रुक जाने पर भी वे भावनाएँ रुकती नहीं। वे तो प्राकृतिक होती हैं और छोटे से छोटे बालक में भी होती हैं। वे जब बाहर रास्ता नहीं पातीं तो भीतर उतर जाती हैं और उपचेतन में अपना स्थान बना लेती हैं जहाँ से वे स्वप्न आदि में उतरती हैं और व्यक्ति में विचित्र कुण्ठाएँ उत्पन्न करती हैं। फ्रायडवादी लेखक साहित्य को उन कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति ही समझते हैं। सामाजिक जीवन के क्षेत्र में वे यह मानते हैं कि वर्गवाद आदि सब झूठे बन्धन हैं। यह सब तो वाह्य रूप हैं। मूल तो काम भाव है।

फ्रायडवाद एक अति है जो उपचेतन की अथाह गहराई को केवल प्रजनन

भावना से ही नाप लेना चाहता है। अतः उसकी एक सीमा है जिसके बाहर उसे स्वीकार करना उचित नहीं।

एल्फ्रेड मैकिन के मतानुसार[1] मनुष्य ने सामाजिक जीवन इसलिये स्वीकार नहीं किया कि वह पशुओं से भयभीत था। वह पहले अकेला रहता था। जब बाद में शिकारियों में भूमि के पीछे झगड़ा होने लगा, तब ही अकेले मनुष्य को खतरा अनुभव हुआ। "अकेला आदमी लड़ाई में शीघ्र ही नष्ट हो जाता था। शिकारगाह को वे ही जीत सकते थे जो कि सबसे अच्छे (अर्थात् ताकतवर) आदमियों के गिरोह थे।" अन्य किसी जन्तु ने ऐसा नहीं किया। यह तो एक नया कारण था जिसके लिये व्यक्ति आपस में मिले। इसे प्रवृत्ति के अन्तर्गत नहीं रख सकते। इस कार्य्य के लिये बुद्धि और नैतिकता की आवश्यकता थी।

एल्फ्रेड मैकिन ने आगे यह भी कहा है कि मनुष्य मूलतः काम करना नहीं चाहता, तभी इतिहास के आदि में दास प्रथा के द्वारा जबर्दस्ती काम लिया जाता था। दास प्रथा ने ही समाज को बहुत अधिक लाभ पहुँचाया था। 'मनुष्य कार्य्य से घृणा करते हैं, और उनमें सच्ची सामाजिक प्रवृत्ति नहीं है, यही वह निदान है जो आज की मानव प्रकृति को समझाता है, यही विचार सत्य को प्रदर्शित करता है।' (पृ० १२५ वही)

इस प्रकार के तथ्य सदैव अर्द्ध सत्यों पर आधारित हुआ करते हैं। यह पहले से यांत्रिक रूप से मान लिया जाता है कि समाज का निर्माण होने के पूर्व ही एक वर्ग ऊँचा था जिसने दबाया, दूसरा कमजोर था, जो दबा। नहीं, यह तो समाज में पारस्परिक आदान-प्रदान और मनुष्य के उत्पादन के साधनों को सापेक्ष दृष्टि से रखकर देखना नहीं हुआ। इसमें मनुष्य की इच्छाशक्ति (will) को सर्वोपरि स्थान दे दिया गया जिसका उसके उत्पादन के साधनों से कोई सम्बन्ध नहीं रहा।

किसी विशेष प्रकार के व्यक्ति में, या समूह में जब शिकारगाह जीतने की प्रवृत्ति आई, तभी आवश्यकता ने आर्थिक रूप पकड़ा और आत्मरक्षा के लिये सामूहिक जीवन प्रारम्भ हुआ। उत्पादन के वितरण, विनिमय, साधनों ने जब

१—वाट इज़ मैन. पृ० १००. वाटस. १६४६

अपना प्रभाव डाला तो फिर विकास उसके अनुसार हुआ। हम यह नहीं कहते कि केवल आर्थिक आधार ही सब कुछ होते हैं, परन्तु वे मूलाधार होते हैं, यह तो इस विचारधारा के लोग भी स्पष्ट ही देखते हैं, किन्तु उस पर दृष्टिपात नहीं करते।

विकास की जिन मंजिलों को लेकर हम चलते हैं वे स्पष्ट मानती हैं कि मनुष्य पहले पशुओं की भाँति रहता था, परन्तु आत्मसंरक्षण की भावना ने उसे सामूहिक जीवन दिया। किन्तु व्यक्ति और समाज में द्वन्द्व क्यों रहता है? इसलिये कि व्यक्ति अभी ऐसा समाज नहीं बना पाया है जिसमें कि कल्याण और आनन्द एक हो सके। काव्य उस द्वन्द्व को अधिक से अधिक मिटाने का प्रयत्न करता है, वह पर्दा डालने का काम नहीं करता, वह व्यक्ति को व्यक्ति के पास ले आता है। मनुष्य की कारण बुद्धि यदि एक बार द्वन्द्व को दूर नहीं कर पाती, तब भी वह भाव के माध्यम से सम्वेदनात्मकता का सिरजन करता है। यही काव्य के प्रारम्भ का मूल उत्स है।

इ] भारतीय काव्यों में योगदर्शन का गहरा प्रभाव प्राप्त होता है। योग का ईश्वर से सम्भवतः पहले सम्बन्ध था या नहीं, यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता। योग भारत में आर्य्यों के आने से पुरानी साधना है। शरीर की शक्तियों को केन्द्रित करना, बुद्धि और चेतना की एकाग्रता प्राप्त करना इसका पुराना काम रहा है। उपचेतन मस्तिष्क पर काबू करना इसका ध्येय रहा है। स्वामी दयानन्द ने अपने सत्यार्थ प्रकाश (पृ० ३३५) में मूर्ति पूजकों के लिये के लिये लिखा था"···ये अन्धे लोग भेड़ के तुल्य एक के पीछे दूसरे चलते हैं, कूप-खाड़े में गिरते हैं, हट नहीं सकते, वैसे ही एक मूर्ख के पीछे दूसरे चल कर मूर्त्ति-पूजा रूप गढ़े में फँस कर दुख पाते है।' उन्होंने विवेक को ही श्रेष्ठ माना था।

पातंजल योग सूत्र में भी आसन उसी को माना है, जो सुख दे। हम और आप जिस ढङ्ग से साधारणतः बैठते हैं उसे वे लोग सुखासन नहीं मानते। यद्यपि योगासन से बैठने से कष्ट होता है, पर वे उसे ही सुख मानते हैं क्योंकि उसी तरह बैठने से शरीर नीरोग रहता है और असली सुख उसी से प्राप्त होता है।

विवेक के माध्यम से वास्तविक सुख की खोज करना योगियों का ध्येय रहा है और काम के वे शत्रु रहे हैं क्योंकि यद्यपि काम भाव में सुख मिलता है, परन्तु वे उसे दुख मानते हैं।

योग अपने प्राचीन और मध्यकालीन रूप में अपने वाह्याचार को बदलता रहा है। योग ने अभी तक व्यक्ति के विकास को ही अपना चरमलक्ष्य बनाया है। समाज की परिस्थिति की ओर उसका ध्यान नहीं गया है। यद्यपि योग का सर्वश्रेष्ठ रूप राजयोग माना गया है, किन्तु संसार में रहकर योग करना—अर्थात् कर्मयोग को बहुत महान माना गया है। गुरु गोरखनाथ ने संसार का कल्याण करने को ही अपना मत चलाया था। योगमार्गी सन्तों ने इस संसार और समाज में दिलचस्पी ली है और प्रथम तो इसी कारण उनका प्रभाव पड़ा है, दूसरे उनका प्रभाव इसलिये भी पड़ा है कि योगियों ने व्यवस्था विशेष के सीमित सत्यों को सदैव चुनौती देकर मनुष्य को यह बताया है कि वह अपने सामाजिक जीवन में शाश्वत नहीं है। भारतीय चिन्तन की जिस अभावात्मकता ने निरन्तर विदेशी आक्रमणकारियों के गर्व को खण्डित किया है, वह योगमार्गों की दी हुई शक्ति ही स्वीकार की जा सकती है। उस अभावात्मकता का दूसरा पथ जो व्यक्ति को शून्यवादी बनाता है, वह उतना ही बुरा है, जितना प्रथम पक्ष शक्तिशाली प्रमाणित हुआ है। योगमार्ग ने सृष्टि के रहस्य को सुलझाने की चेष्टा की है। किन्तु वैयक्तिक रूप में योग मनुष्य के विवेक की शक्ति को बढ़ाता है और उसके प्रवृत्तिपक्ष और भावपक्ष को नकार में बदल देना चाहता है। 'स्व' को 'पर' में बदलने की यह क्रिया अपने को सामूहिक दृष्टिकोण में नहीं रखती, वह वैयक्तिक रूप में रखती है और इसीलिये योग आजतक सांसारिक जीवन के सामने द्वन्द्व के रूप में रहा है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य में रहस्यवाद पर विस्तार से लिखा है अतः हम यहाँ उस विषय को नहीं उठाते। केवल यही कहना अलं है कि रहस्यवाद में एक तो सृष्टि के रहस्य की मूक अनुभूति अपने को प्रगट करना चाहती है, और कभी-कभी रहस्यवाद केवल प्रतीक पद्धति का अनुसरण करता है। दोनों ही अवस्थाओं में आचार्य शुक्ल के निष्कर्ष ठीक हैं।

ई] काव्य के विषय में विज्ञान की उन्नति ने काफी विचार परिवर्त्तन कर

दिया है। विज्ञान की यह उन्नति लगभग १५० या १७५ वर्षों में हुई है। इसी बीच संसार में कैसा कुछ परिवर्त्तन नहीं हो गया है। विज्ञान ने काव्य की कल्पना के पुराने क्षेत्र को काफी परिवर्त्तित किया है। ऑस्कार वाइल्ड को विज्ञान की यह उन्नति पसन्द नहीं थी। वह कहा करता था कि मुझे चाँद के बारे यह सुनकर अच्छा नहीं लगता कि चन्द्रमा एक उपग्रह मात्र है। यह सत्य मेरी कल्पना को कुण्ठित करता है। मुझे तो चन्द्रमा को डायना के नारी रूप में देखना ही अच्छा लगता है। निस्संदेह उसके मन पर आघात पड़ा था कि एक अत्यन्त सुन्दर नारी के स्थान पर विज्ञान ने एक उपग्रह को लाकर खड़ा कर दिया था। आज भी कवि लोग प्राचीन काल के रथ की महिमा गाते हैं तो सुनने में अधिकतर लोगों को अच्छा लगता है। आज की मोटर का वर्णन उतना अच्छा नहीं लगता। इसका कारण क्या है?

पहली बात तो यह कि पुरानी वस्तुओं की पृष्ठभूमि पुरानी है और उसे सुनने की पुरानी आदत है अतः वह सब अच्छा लगता है।

दूसरी बात यह है कि मशीन ने हमारे जीवन को अव्यवस्थित कर दिया है। पुराने मानदण्ड खंडित होगए हैं और नये अभी उनका स्थान नहीं ले सके हैं।

तीसरी बात यह है कि मशीन को मानव से ऊपर रखने में भाव नहीं जागता। मानव को ही मशीन का स्वामी स्वीकार करने पर व्यक्ति का उससे समुचित तादात्म्य हो सकेगा। आज तक के जो औजार थे मनुष्य उनसे आच्छादित नहीं हो सका था। आज के औजार अपनी विषमता के कारण अच्छे नहीं लगते। उनके अच्छे न लगने का कारण समाज की आर्थिक व्यवस्था की विषमता है। सोवियत् रूस में समाजवादी क्रान्ति के बाद जो नया साहित्य रचा गया उसमें मशीनों को बहुत प्रभुत्व दिया गया। अन्त में इलिया एहरेनवर्ग को लिखना पड़ा× कि व्यक्ति मशीनों की जानकारी के लिये साहित्य नहीं पढ़ता। साहित्य तो मनुष्य के विषय में बोलता है। यही सत्य है, जो रूसी लेखकों ने इतने दिनों के बाद पहँचाना, क्योंकि उनके इतिहास में

× राइटर एण्ड हिज क्राफ्ट

साहित्य शास्त्र की विवेचना की वह गहराई नहीं मिलती, जो कि भारत में प्राचीन लोग ही प्रस्तुत कर गये थे।

मशीन का विकास विज्ञान के विकास के साथ हुआ है। यह सत्य है कि विज्ञान ने पुरानी धारणाओं को बदल दिया है। पहले लोग यह मानते थे कि पृथ्वी शेषनाग के फनों पर स्थिति है। विज्ञान ने कहा कि वह फनों पर स्थित नहीं। वह तो शून्य में चक्कर काट रही है। मेरी अपनी राय में यह भी कविता की सी ही बात है। सृष्टि के नाना रूपों की अभिव्यक्ति अपने भीतर नये नये सौन्दर्य धारण करती है। किंतु साहित्य का काम वहीं तक है जहाँ तक मनुष्य से, उसके भाव से, वस्तु का सम्बन्ध है। कविता सुन्दरता का वर्णन करती है, किन्तु जब शरीर डाक्टर की मेज पर चीरा फाड़ी के लिये जाता है तब कविता उस समय के आपरेशन की सूक्ष्मताओं में नहीं मिलती, करने वाले और करवाने वाले पर केन्द्रित हो जाती है। पहले विज्ञान के मतानुसार यह पृथ्वी सूर्य्य में से निकली हुई मानी जाती थी, किंतु अब रूसी तथा अन्य वैज्ञानिक नये नये मत प्रतिपादित करने की चेष्टा कर रहे हैं। वे यह नहीं मानते कि पृथ्वी पहले गर्म थी फिर ठण्डी हुई निस्संदेह वह कविता जिसने पुराने विश्वासों का वर्णन किया था; वह नये सत्यों के सामने, केवल विगत विश्वास ही बनकर रह सकेगी। किंतु सृष्टि के व्यापक विस्तार का वह विस्मय जो लेखक अनुभव करता है, वह तो उन संक्षिप्त मत परिवर्त्तनों से बदल जाने वाला नहीं है। वह काव्य का प्राण—उसकी अनुभूति है। विज्ञान का सत्य शीघ्र बदलता है, काव्य का सत्य उतनी शीघ्र नहीं बदलता, क्योंकि काव्य का मानव के अन्तस्थ जगत से सम्बन्ध है, और विज्ञान का जगत के वाह्य रूपों से।

•

पहले की बैलगाड़ी धीरे-धीरे चलती। अब रेल तेज चलती है। गति का यह भेद मानव मत की बहुत सी उलझनों और विवशताओं को दूर कर सकता है, किंतु वह रागविराग की अवस्थाओं में तो परिवर्त्तन नहीं कर सकता।

पहले चकोर चन्द्रमा की आग खाया करता था और गाना गाया करता था। किसी ने देखा नहीं था। सबने सुना था और सब मानते चले आ रहे थे। विज्ञान ने बताया कि चकोर नामक पक्षी को 'दिमागी बुखार' चढ़ आता

है, और वह चिल्लाना शुरू कर देता है। डी० एच० लॉरेन्स को तो विज्ञान के कुछ तथ्य स्वीकृत ही नहीं थे। वैज्ञानिक कहते थे कि मोरनी को रिझाने के लिये मोर पंख खोल कर नाचता था। लॉरेंस पूछता था कि इसी में क्या सत्य है कि मोरनी की आंख मनुष्य की आँख की भांति रङ्गों की परख करना जानती है। यह तो सत्य नहीं मालूम देता। पहले हंस नीरक्षीर को अलग किया करता था, मोती चुगता था। बीसवीं सदी में यह सब होना ही बन्द हो गया।

इस सबसे यही प्रगट होता है कि पुरानी कल्पनाओं का वह क्षेत्र अब सीमित हो गया। अब कृष्ण के महारास के लिये शरद ऋतु में चन्द्रमा ६ महीने तक आकाश में रुका नहीं रह सकता। क्या इन रूपों के बदल जाने से काव्य का क्षेत्र वास्तव में रुक जाता है। भारत में तो ऐसा साहित्य कम लिखा गया है, परन्तु अङ्गरेजी में तो जब से मंगल ग्रह पर जीवन की बात चली ढेरों ऐसी रचनाएं लिखी गईं जिन्होंने नयी कल्पना से अनन्त आकाश की परिधियों को नापने का प्रयत्न किया। एच० जी० वेल्स ऐसा ही संसार प्रसिद्ध लेखक था।

कल्पना के विभिन्न रूप हैं और काव्य उन्हें विभिन्न मर्यादाओं से स्वीकृत करता है। विज्ञान एक पक्ष में कपल्ना को सीमित करता है तो दूसरे पक्ष में नये-नये उपादान भी देता है। विज्ञान आखिर है क्या ? वह अन्वेषण पद्धति जो प्रयोगों से स्थिर की जा चुकी है, वही विज्ञान है। वह तो सृष्टि के अपार रहस्यों को सामने रखने वाला है। प्रारम्भ के औजार, घर, यह सब भी विज्ञान के सहारे से ही बने थे। उस समय का मानव उनसे हर्षित होता था और उन्हें अपने जीवन के प्रतिनिधित्व करने वाले साहित्य में स्थान भी देता था।

वैदिककाल में कवि केवल छन्द रचने वाला नहीं माना जाता था। कवि का अर्थ था विद्वान्। उन दिनों की सारी विद्या को कवि जानता था। १४ विद्या और ६४ कलाएं जान लेना पुराने समय में कोई बहुत आश्चर्य्य नहीं था। उसके परे कुछ भी नहीं था। अरस्तू स्वयं अपने समय का ऐसा ही ग्रीक विद्वान था। और मध्यकाल में इटली का लियोनार्दो द विंची ऐसा ही बहुमुखी प्रतिभा वाला विद्वान माना गया था। परन्तु आजकल वैसा विद्वान होना

असम्भव है। ज्ञान की इतनी शाखाएं फैल गई हैं कि सबको पूरी तरह से नहीं जाना जा सकता। इतना तो पढ़ने को है कि यदि मनुष्य अपने ही विषय पर लिखा हुआ सबही पढ़ने को बैठ जाये, तो न तो वह उस सबको पढ़ ही सकता है, न उसके अतिरिक्त उसे और कुछ करने का अवकाश ही मिल सकता है। अतएव, आज सीमित ज्ञान की गहराई को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है। एक ही वस्तु को जानना आज श्रेयस्कर माना जाता है। कोई भी एक विषय अच्छी तरह जानने के लिये ज्ञान की अन्य शाखाएं जिनका उनसे सम्बन्ध है, अपने आप थोड़ी-थोड़ी बीच में आ जाती हैं और मनुष्य की जिज्ञासा को शान्त करती हैं। ऐसे समाज में जो कवि उत्पन्न होता है वह ज्ञान के नीरस बहुरूप को देखकर नहीं रह सकता। उसे उस भावपक्ष को ही लेना चाहिये जो कि ज्ञान को जीवन का पर्य्याय बनाता है। इस प्रकार कविता का क्षेत्र विज्ञान से आहत नहीं होता वह नया मोड़ लेता है और अभी तक जो मार्ग उसके सामने नहीं थे, वे सब खुल जाते हैं।

उ] काव्य पर शिक्षा प्रणाली ने अपना प्रभाव प्रत्येक युग में अलग-अलग ढङ्ग से डाला है। पहले जब तक काव्य मौखिक रूप से याद करके गाया जाता रहा, तब उसमें बंदिशें ज्यादा थीं। वही चीज चल पाती थी, जिसे उस समय के लोग पसन्द करते थे। परन्तु शिक्षा का रूप बदला। आज की शिक्षा में कोई ऐसा तारतम्य नहीं है, और इसीलिये काव्य भी अपना वह रूप जीवित नहीं रख सका है। किन्तु इसमें निराश होने की बात नहीं है। काव्य अपने मूलगतमूल्यों में इन वाह्य उपकरणों से शासित नहीं होता।

ऊ] काव्य में चोरी एक गुण है या अवगुण? यह प्रश्न बहुधा पूछा जाता है। कुछ मुहाविरे से बन गये हैं कि— शूद्रकोच्छिष्टं जगत्त्रयं। अर्थात् शूद्रक के बाद सब जूंठा है। शूद्रक बाणभट्ट की कादम्बरी का पात्र है। हिन्दी में

'सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास—
अबके कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकाश।'

प्रसिद्ध है। यह केवल उस समय की आलोचना का रूप ही है। किसी कवि विशेष के प्रति अपनी श्रद्धा प्रगट करते समय आगे के रास्ते को इसमें बन्द करने की चेष्टा की गई है, इस पर किसी का ध्यान नहीं गया।

काव्य में तो चोरी हो ही जाती है। कालिदास का मेघदूत कोई आकस्मिक घटना नहीं। उससे पहले घटखर्पर आदि ने दूत से कहने की परम्परा को धीरे-धीरे बढ़ाया था। कालिदास ने उसे परिमार्जित करके प्रस्तुत किया। गेटे ने फॉस्ट लिखा। फ्रॉस्ट की कथा तो प्रचलित थी ही, उसके साथ ग्रीक कल्पनाएँ थीं, और मध्यकालीन यूरोप के वे समस्त विश्वास थे जिनका आधार कीमियागरी पर आश्रित था। शेक्सपियर को तो लोग कहते थे कि यह कौआ है जो मोर के पंख लगाकर चलता है, क्योंकि उसके कथानक अन्यस्थलों से लिये गये थे। तुलसीदास ने तो रामचरित मानस के प्रकृति वर्णन में श्रीमद्-भागवत के भाव के भाव ही ले लिये हैं। रवीन्द्रनाथ में उपनिषदों के कई स्थल वैसे के वैसे ही मिल जाते है।

क्या इन सब को चोरी में गिना जा सकता है? नहीं राम की कथा को ही कई लोगों ने लेकर लिखा है, तो क्या। वह चोरी ही है?

कहते हैं संसार में केवल सात कथाएं ही मौलिक हैं, हाँलाकि वे मैंने नहीं पढ़ी हैं। पर विद्वानों का कहना है कि उन सात के बाद है जो है, वह सब हेरफेर ही है। सच पूछा जाये तो प्रेम की एक कथा लिखने के बाद संसार में दूसरी प्रेम कथा हेर फेर के साथ ही रखी हुई मानी जा सकती है। थोड़ा बहुत घटना परिवर्त्तन अवश्य मिलता है, वर्ना लैला मजनूँ, रोमियो-जूलियट, हीररांझा, सुहिणी महीवाल, शीरीं फरहाद, सब ही कथाएं मूलतः एक ही है। क्या वे एक दूसरे की चोरी ही कहला सकती हैं?

यह प्रश्न इतना स्पष्ट है कि इसे हम विज्ञ पाठकों पर छोड़ते हैं। वे ही इसका समुचित उत्तर दे सकते हैं। दुर्भाग्य से आलोचना के क्षेत्र के अतिरिक्त मैं वैसी रचनाएं भी लिखता हूँ, इसलिये जो भी कहूँगा, वह पक्षपात से संभवतः कुछ रंजित पाया जाये। अस्तु।

ए] काव्य का विश्लेषण करते समय ऊपर हमने काव्य को जीवन के विभिन्न पक्षों में रखकर देखने की चेष्टा की है। उसका जीवन के विविध अङ्गों से हमने सम्बन्ध देखने का प्रयत्न किया है। केवल आर्थिक आधारों को देखना ही हमारा अभीष्ठ नहीं रहा है, क्यों कि अर्थ के अतिरिक्त भी कई विषय हैं जो कि समाज में अपना गहरा प्रभाव डालते हैं। किन्तु यहाँ हम यह देखना

चाहते हैं कि किस प्रकार समाज की विभिन्न व्यवस्थाओं में कवि वर्ग पर प्रभाव पड़ता रहा है। कवि की स्थिति कुछ ऐसी है— .
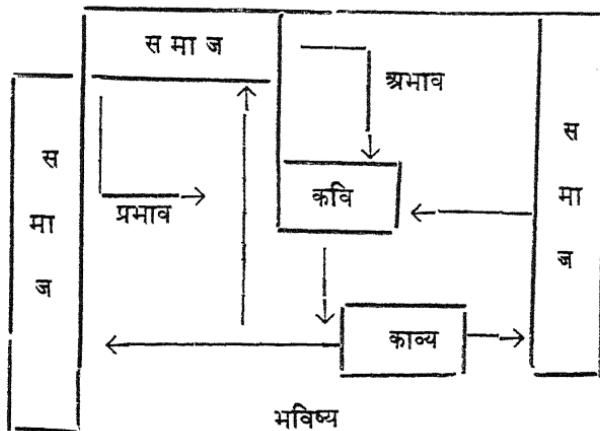
समाज में से कवि जन्म लेता है। वह समाज से घिरा हुआ है और उस पर समाज के भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं। वह सबको ग्रहण करता है। फिर कवि से काव्य जन्म लेता है। जन्म लेने के बाद काव्य की सत्ता कवि के व्यक्ति से अलग हो जाती है। और काव्य समाज पर अपना प्रभाव डालता है। और भविष्य का उन्मुक्त पथ उनके सामने खुला होता है।

•

कवि वर्ग में जन्म लेता है, जाति में जन्म लेता है, देश और काल में जन्म लेता है, किन्तु कवि न तो वर्ग से बद्ध है, न जाति से, न देश से, न काल से। अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि कवि किसी विशेष वर्ग, जति, देश या काल से ही जन्म लेता है। वह तो किसी भी वर्ग, देश, जाति या काल में हो सकता है। परन्तु कवि का व्यक्तित्व वर्ग, देश, जाति और काल से सदैव प्रभावित होता है। कवि के दो रूप होते हैं—

कवि

वह व्यक्तित्व जो कि उसके व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है, जिसमें वह अपने जीवनोपाय पर निर्भर रहता है।	वह व्यक्तित्व जो काव्य में प्रगट होता है, जो कि अपने देश, काल, वर्ग, जाति के बन्धन से आगे निकल जाने की सामर्थ्य और स्थायित्व रखता है।

यदि यह दोनों व्यक्तित्व ऐसे हों कि एक दूसरेसे बिल्कुल अलग-अलग हों तब तो आर्थिक आधार का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु पहला तो समाज से प्रभावित होता है और अन्ततोगत्वा उसका दूसरे पर भी प्रभाव पड़ता है, अतः हमें उस प्रभाव को देखना चाहिए।

[१] अ] आदिम कवि जिस समाज में रहता था, वह समाज शिकारी था, उसमें स्त्री पुरुष समान थे। परिवार नहीं था, समूह था मातृसत्तात्मक व्यवस्था थी। वहाँ कवि प्रकृति के बहुत निकट था। अपने युग की नैतिकता का निर्माता था। वही दार्शनिक था। सम्माननीय था, मस्त रहता था।

आ] समाज में वर्गों का जन्म हुआ। परिवार बना। खेतिहर व्यवस्था में पितृसत्ताक समाज बना। समाज में वेदना बढ़ी। कवि दोनों वर्गों में जन्मा और उसने जीवन को दो दृष्टिकोणों से देखा। परन्तु बाहर निकलने का रास्ता नहीं था। अधिकाँश विचार धारा एक ही थी। दोनों वर्गों के कवियों ने मूलतः बात एक ही कही। उच्च वर्ग का कवि मानवतावादी रहा, निम्न वर्ग का कवि सहूलियतों के लिये सिर उठाता रहा।

[२] अ] वैदिक काल में कविता पुरोहित वर्ग के हाथ में ही अधिक-

तर जाने लगी और उसने समाज के उपासना, दर्शन आदि पक्ष को पकड़ा।

आ] परवर्त्ती वैदिककाल में काव्य दार्शनिकों के हाथ में गया और अधिकांश उच्चवर्ग के कवि ही इतनी सुविधा प्राप्त कर कर सके कि वे काव्य रचना कर पाते।

[३] अ] महाभारत काल के बाद महर्षि व्यास हुए। वे दरबारों में भी रहते थे! उच्च कुल के आदमी थे। तपोवनों में भी रहते थे। सम्भवतः उन्होंने अपना काव्य तत्कालीन जनभाषा में बनाया, या यह हो सकता है कि उन्होंने अपना काव्य वैदिक संस्कृत में ही लिखा था जो गाया जाता रह कर, मौखिक प्रचलन के कारण, लिखे जानेके पहले, अपने आप धीरे-धीरे बदलता गया।

आ] उपनिषद् और आरण्यककाल में एक ओर उच्चकुल के लोग वैदिक भाषा में दर्शन की ग्रंथिया सुलझाते तपोवनों में उलझे रहे और दरबारों में विवाद करते रहे, इधर लोकभाषा का काव्य धीरे-धीरे उपदेशात्मक रूप धारण करके चौराहों पर आ गया, जहाँ वह गा-गाकर व्यासपीठ से सुनाया जाने लगा। ब्राह्मण वर्ग के हाथ में रहने से, यह काव्य ब्राह्मणों की स्तुतियाँ अधिक गाने लगा और इसने नई-नई जातियों के विश्वासों को स्वीकार किया और मानवीयता की नयी भूमि बनाई। अन्ततोगत्वा इस काव्य ने सत्य की समाज में ऐसी महिमा गाई कि उसके सामने सब कुछ हेय प्रमाणित कर दिया। इस काव्य ने मनुष्य को महान चरित्र दिये और यह भी प्रमाणित किया कि समाज की विषमता व्यक्ति के चरित्र का निर्माण किस प्रकार विभिन्न रूपों में करती हैं?

[४] इस युग के बाद ही वह समय प्रारम्भ हुआ जब कविताओं को धर्म, दर्शन और इतिहास से अलग करके देखा जाने लगा। तभी बाल्मीकि रामायण को आदि काव्य कहा गया। इस युग का कवि तपोवन में रहता था।

उसके पास बहुत वैभव तो न था, परन्तु वह गुरू हुआ करता था। उसका बहुत सम्मान था। उसके निवास-स्थान में राजा की आज्ञा नहीं चलती थी। उसके तपोवन को शान्तिपूर्ण माना गया है। वह अधिकांश ब्राह्मण वर्ण का सा गौरव प्राप्त करता था। उस पर कोई कर नहीं लगते थे। वह पढ़ता था, पढ़ाता था। मस्त रहता था। दीन के प्रति उसकी सहानुभूति थी। संसार में श्रेष्ठ समाज बनाने की कल्पना करता था और उसे सम्मानपूर्वक सुना जाता था। उसे राजा की गलती की ओर भी उँगली उठाने का अधिकार था। यह सामन्तकाल के उदय के समय कवि की परिस्थिति थी, जब दास प्रथा समाप्त हो रही थी। उस समय के कवि ने आदर्श पुरुष की कल्पना की थी और दास प्रथा के कवि पर छाई हुई भाग्यवाद की जाली को तोड़ा था। उसने समाज को आगे बढ़ाया था। परन्तु उसने नये समाज की स्थापना में वर्णों की नवीन व्यवस्था को तोड़ने वाले शम्बूक को सजा दिलाई थी। और इस प्रकार नये धर्म की व्यवस्था और मर्यादा स्थापित की थी। उस कवि की रचना को उसके शिष्य गा-गा कर सुनाते थे, और उनकी गति, राहों, बाज़ारों से लेकर राज-दर्बारों तक थी। यह कवि वैतालिक या बन्दी चारण नहीं था, जो केवल प्रशस्तियाँ सुनाता। यह कवि समाज के प्रति उत्तरदायित्व रखता था, परन्तु राजा विशेष से प्रभावित नहीं था।

यद्यपि कहा यह जाता है कि बाल्मीकि ने राम से पहले ही रामायण लिख दी थी, किन्तु हमें यह ठीक नहीं लगता। हम तो यह मानते हैं कि बाल्मीकि ने राम के राज्य पाने के बाद, सीता के बनवास के समय यह पुस्तक लिखी और व्यवस्था के उस अमानवीय रूप के विरुद्ध लिखा, जो कि तब मान्य थी। इस प्रकार लगता है कि कवि सामयिक विषयों में भी भाग लेता था।

[५] इस काल के बाद कवि तपोवनों में दिखाई नहीं देता। वह या तो दरबारों में दिखाई देता है, तब तो समृद्ध, सम्मानित मिलता है, या फिर वह दरिद्र दिखाई देता है, जिसे प्रातः खाकर सायं भोजन का प्रबन्ध नहीं है। स्पष्ट ही काव्य केवल मनोरंजन की ही वस्तु होगई। उसका समाज से आर्थिक कोई सम्बन्ध नहीं रहा। कविता के तीन क्षेत्र फिर बँट गये। अच्छी कविता

दरबारों में गई और जनता की काव्याभिव्यक्ति अनगढ़ रही, वह लोक की गीत परम्परा में बहती रही और यही क्रम चाणक्य से लेकर घूम फिरकर, रूप में थोड़ा बहुत परिवर्त्तन करता, १८५७ ई० तक चलता रहा। इस समय कविता के इन दो क्षेत्रों के अतिरिक्त तीसरी परम्परा उन कवियों की रही, जो शिक्षित थे, ज्ञानी थे और धर्म के रक्षक थे, सन्त भक्त थे। वे दरबारी कवियों की भाँति न काव्य को चमत्कार का विषय समझते थे न राजाओं की प्रशस्ति गाते थे। समाज में वे जिसे धर्म मानते थे उसके प्रति उनका उत्तरदायित्व था। वैभव से वे भयभीत नहीं थे। परमात्मा* को मानते थे और उसके वैभव के आगे राजाओं के अस्थायी वैभव को कोई स्थान नहीं देते थे। यह वही चौराहों की उपदेशात्मक काव्य परम्परा थी, जो मर्यादामूलक थी और इसका प्रभाव जनता और सामन्तवर्ग दोनों पर समान था, क्योंकि यह कवि जीवन को अभावात्मक मानकर चलते थे और व्यक्तिगत तौर पर निःस्वार्थ हुआ करते थे। साधारण जीवन व्यतीत करते थे। व्यक्ति की साधनापरकता पर ज़ोर देते थे। समाज के विषय में उनकी वर्गगत चेतना थी—

१] वे जो उच्च वर्णों से आते थे सहूलियतें देते थे, परन्तु उसी व्यवस्था को अच्छा मानते थे, ऐसे लोगों में भक्त कवियों को लिया जा सकता है।

२] वे जो निम्न वर्णों से आते थे, सहूलियतें माँगते थे, व्यवस्था की विषमता पर आघात करते थे और फिर विवशता में समझौता करते थे। ऐसे लोगों में अधिकांश सन्तों को लिया जा सकता है।

ये दो प्रकार के कवि समाज में धर्म की प्रतिष्ठापना करते थे। अतः न्याय मार्ग ही उनका उद्देश्य था। यह बात दूसरी है कि वह मार्ग न्याय का था या नहीं। यह तो उनके युग विशेष की परिस्थिति से सापेक्ष रखकर देखना चाहिये। किन्तु यह निस्सन्देह सत्य है कि वे अपने युग की समस्त अच्छाई लेकर चलते थे और उनका प्रयत्न यही होता था कि वे समाज में मानव को अधिक से अधिक स्नेह दें।

---

* अर्थात् अपने धर्मविशेष को।

परन्तु जो दरबारी कवि थे उनका निम्नलिखित विभाजन किया जासकता है

१] वे उत्तम कवि, जो निर्भय थे, राजाओं से दबकर नहीं रहते थे। राजा के यहाँ रहकर भी उसकी प्रशस्ति नहीं लिखते थे।

२] वे मध्यम कवि, जो राजाओं से अपनी शक्ति का संतुलन रखते थे, अपनी भी चलाते थे और समय पर प्रशस्ति भी लिखते थे ; उसी राजा की तारीफ करते थे, जिसे वे योग्य समझते थे। उसी के आश्रित भी रहते थे।

३] वे अधम कवि जो केवल चाटुकारिता और प्रशस्ति पर पलते थे। उनको अपना कुछ नहीं कहना होता था, जैसा राजा चाहता था, वे वैसा ही लिख दिया करते थे। वे केवल तारीफ करते थे और उन्होंने ही चाहे जो कुछ लिख भी दिया है।

यह विभाजन ऐसा नहीं कि पत्थर की लकीर हो। एक ही कवि के तीनों रूप पाये जा सकते हैं, या कोई दो।

कहते हैं कालिदास ऐसा ही निर्भीक कवि था कि प्रथम कोटि में आता, किन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि शृङ्गार तिलक उसी की रचना है, जो एक निष्कृष्ट कोटि की कविता पुस्तक है, जिसमें बहुत ही गंदे किस्म के शृङ्गारी वर्णन हैं, जिन्हें पढ़कर जुगुप्सा उत्पन्न होती है। भूषण उन कवियों में था, जो दरबारी था, परन्तु उसी राजा की प्रशंसा करता था, जिसे वह योग्य समझता था। वह औरंगजेब जैसे प्रचण्ड शक्तिशाली को छोड़कर शिवाजी के पास चला गया था। केशव इतना अच्छा कवि था, पर वीरसिंह की प्रशस्ति लिखता था। ऐसे ही विद्यापति भी था। फिर भी आमतौर पर, यह विभाजन विषय को सरल बनाता है।

सारा सामन्त काल इसी प्रकार के कवियों में समाप्त हो जाता है।

६] आधुनिक कवि का इतिहास लिखना आवश्यक नहीं है। भारतेन्दु काल से अब तक का कवि किस प्रकार दरिद्र रहा है, समाज में उसकी क्या स्थिति है यह प्रायः सब जानते है। कविता पुस्तकों की छपाई में जो कष्ट होता है, उससे ही कितने ही कवि हतोत्साह होकर लिखना ही छोड़ बैठते हैं। पूँजीवादी पत्रों में स्वतन्त्रता भी नहीं है। वे केवल ऐसी रचनाएँ छापना

पसंद करते हैं जिनमें 'कला कला के लिये' की बात ही हो। यद्यपि भारत में अभी वह हालत नहीं है कि पत्रों में लेखकों को स्वतंत्रता हो ही नहीं, फिर भी उन पर प्रतिबंध तो हैं ही। और यदि लेखकों ने एक स्वर से इसका विरोध नहीं किया, तो रीतिकालीन अधम कवियों की कोटि के कवि आधुनिक युग में भी सिर उठा लेंगे और साहित्य को गहरी चोट देंगे।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि कवि अपनी आर्थिक व्यवस्था से कितना प्रभावित होता है। इतिहास बड़े से बड़े अन्धकार को दूर करने की शक्ति रखता है। उसने फिर हमारा साथ दिया है।

आधुनिक काल में प्रगतिशील लेखकों में घुसे कुत्सित समाज शास्त्री भी कम खतरनाक नहीं हैं। वे अधमकाव्य को ही श्रेष्ठ समझते हैं और कवि की प्रतिभा पर प्रतिबंध लगाना चाहते हैं। वे चाहते है कवि कारखानों की तरह नियत समय में निश्चित रचनाओं की पैदावार बाहर बाजार में रख दे, और वे रचनाएँ बाजार की ही आवश्यकताओं के अनुकूल हों। यहाँ बाजार और जनता के विषय में कुछ भेद कर लेना आवश्यक होगा। बाजार का धन से सम्बन्ध है, जब कि जनता राजनीति विशेष में समाप्त नहीं हो जाती, उसका जीवन से सम्बन्ध है, जो कि वास्तव में काव्य का क्षेत्र है। हुक्मी साहित्य सदैव निकृष्ट कोटि का ही होता है—ऐसी सम्भावना ही अधिक होती है, क्योंकि प्रत्यक्ष ने आज तक इसीके प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं।

[ऐ] काव्य शास्त्र के अध्ययन करने वालों के लिये हम एक नया अध्याय खोलते हैं। वह है, काव्य में प्रयुक्त छन्दों की सामाजिक परिस्थिति से अनुकूलता धारण करने की प्रवृत्ति।

जिस प्रकार काव्य का विषय बदलता है उसी प्रकार छन्द भी बदलते रहते हैं। पहले हम वैदिक छन्दों के विषय में लिख चुके हैं। वेद के बाद जो छन्द सबसे अधिक प्रयुक्त हुआ है वह अनुष्टुप छन्द है। संस्कृत के लौकिक साहित्य में छन्दों की भरमार है। यद्यपि छन्द के विकास को प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक परिवर्त्तनों से यांत्रिक रूप से जोड़ना अनुचित होगा, तथापि सामाजिक परिस्थितियों का परोक्ष प्रभाव अवश्य ही पड़ता रहा है।

१] वैदिक छन्द अधिकाँश गेय थे। इसका कारण ही यह था कि तब रट लिया जाता था।

२] परवर्त्ती वेदों का भाग गद्य भी लिये हुए है। वह जनता से इतना तादात्म्य नहीं रखता था जितना पुरोहित वर्ग से, जो कि पूरा समय लगाकर उसे याद किया करते थे।

३] महाभारत में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है। रामायण तथा परवर्त्ती तंत्र, पुराण आदि अधिकाँशतः इसी छन्द में लिखे गये हैं। जनप्रियता और सरलता के दृष्टिकोण से यह छन्द सबसे अधिक उपयुक्त है। हिन्दी में यह छन्द नहीं लिखा जा सका है। अनुष्टुप् संस्कृत में अधिक सरलता से लिखा जाता है क्योंकि उसमें विसर्ग की सहूलियत होती है, जो हिन्दी में नहीं होती। हिन्दी में महाकाव्य लिखने को अनुष्टुप् जैसा छोटा परन्तु भारी छन्द है ही नहीं। चौपाई है, परन्तु वह इतना छोटा है कि खड़ी बोली में अभी उसमें कोई प्रयोग सफल नहीं हो सका है। अङ्गरेजी में जैसा आयाम्बिक पैन्टामीटर छंद है वैसा ही अनुष्टुप् भी बड़ा प्रवाह रखता है। अनुष्टुप् यों होता है—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवाः

इस छन्द का अपनाना कठिन ही है और इसी कारण बड़े बड़े आचार्य्य भी इसे हिन्दी में निभा नहीं पाये हैं।

अनुष्टुप् संस्कृत में बहुत चला। और उसने बहुत प्रभाव भी डाला।

४] किन्तु जब काव्य दरबारों में जाकर फँसा तब संस्कृत में छन्द बाहुल्य बढ़ा। शुरू में कम और बाद में ज्यादा से ज्यादा कठिन छन्द बने।

५] संस्कृत के बाद अपभ्रंश में छन्द सहज मिलते हैं, क्योंकि उनका प्रारम्भ में जनता से अधिक सम्बन्ध था। जब अपभ्रंश वीरकाव्य के सिलसिले में और दरबारों के संबंध में पड़ी तो उसमें भी छन्द बाहुल्य ने प्रवेश किया। सिद्ध कवि पद लिखते रहे क्योंकि उनकी गेय रचनाएँ गायी जाती थीं और अनुगामियों में उनका प्रभाव बढ़ाती थीं।

६] मध्यकालीन हिन्दी काव्य में दो दल स्पष्ट दिखाई देते हैं—

चौपाई और दोहा अपभ्रंश में भी चलते थे। अवधी बोली ने उनका विकास किया और अपना लिया। पहले जो चौपाई बहुतायत से ह्रस्वांत लिखी जाती थी, वह अवधी में अधिकांशतः दीर्घान्त करके लिखी जाने लगी। उसमें अनुष्टुप् का गेयत्व था। छोटी थी, याद आसानी से हो सकती थी।

रीतिकालीन कवि ने कवित्त और सवैया लिये। इनके भी अनेक भेद और उपभेद हैं। वर्णिक छन्द होने पर भी इनका लिखना चौपाई और दोहे के समान सहज नहीं है। फिर रीतिकाल में कवियों ने दोहे को भी लिया और गागर में सागर भरने की परम्परा को पकड़ा। इस समय से पूर्व दोहे की इतनी सामर्थ्य नहीं थी। 'वाह वाह' वाली कविता रीतिकाल में बहुत चली अतः मुक्तक ही उसके लिये अधिक उपयुक्त प्रमाणित हुआ। रीतिकाल में चित्रकाव्य में तो छन्द बहुत ही फुर्सत की बात हो गई। जिसका लिखना तो चमत्कार था ही, उसका पढ़ना भी कम चमत्कार नहीं था। ऐसे ऐसे मुक्तक लिखे गये कि इधर पढ़िये तो एक मतलब निकलता है, और अन्त से पढ़ना शुरू करिये तो दूसरा ही मतलब निकलता है। शब्द की शक्ति पर ही सारी कारीगरी खर्च कर दी गई।

७] भारतेन्दु के समय में जनवादी भावनाएँ बढ़ीं। छन्द फिर सहज होने लगे और उस काल की कविता भी बहुत सरल हो गई।

८] जब पुनर्जागरण राष्ट्रीय भावना से ओत प्रोत हुआ और मध्यवर्ग में पुनुरुत्थान की भावना जागी तब फिर संस्कृत के छन्दों को द्विवेदी काल में अपनाया गया।

९] छायावाद के विकास ने मध्यवर्गीय चेतना की अभिव्यक्ति की। उस समय यूरोप का तथा बंगाल की कविता शैली का भी प्रभाव पड़ा और छन्दों में स्वच्छन्दता दिखाई दी, जिसने पुरानी मर्यादा को तोड़ दिया। छायावाद ने ऐसे छन्द बनाये जो कई एक तो काव्यशास्त्रियों की पकड़ में ही नहीं आते।

(१०) छायावाद के बाद तो छन्द की समस्या यों होगई—
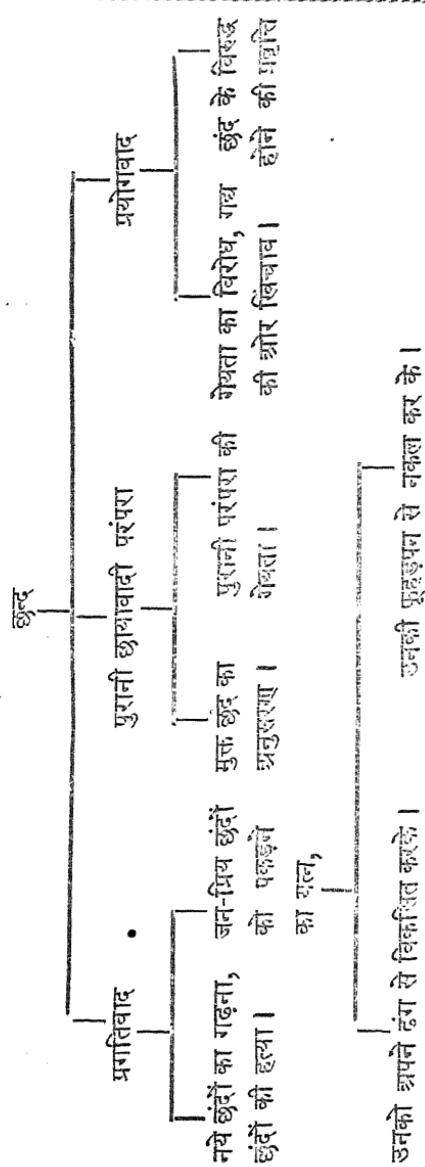
उपर्युक्त चार्ट स्पष्ट करता है आज भी विशेष मत अपने अपने अभिव्यक्त स्वरूपों को अपने-अपने विचारों के अनुकूल ही रखते हैं।

हमने संक्षेप में यह बताने की कोशिश की है कि समाज के विकास की गति अपना प्रभाव काव्य के वाहन छन्द पर भी डालती है और यह भी दिखाने की चेष्टा की है कि अभिव्यक्ति के लिये उपयुक्त भाव अपना प्रगटीकरण, तदनुकूल रूप से, अपने श्रोताओं की सामर्थ्य के अनुसार ही, किसी भी कवि द्वारा प्राप्त करता है। यह विषय इतना बड़ा है कि छन्दों की बनावट के विकास का अनुसंधान करने वाला काव्य के विकास की उन गहराइयों को जान सकता है, जिनमें अभी तक प्रवेश नहीं हो सका है।

छन्द का भाव से ही संबंध नहीं है। वह जब परिष्कृत रूप धारण करता है तब उसको एक दस्तकारी की नफ़ासत का नाम भी दिया जा सकता है। हम इस विषय में, विस्तार के भय से, अधिक नहीं लिख रहे हैं। यह तो एक अलग विषय है, जिस पर विद्वानों को विचार करना चाहिये।

आज काव्य की समस्या यों है—

१—कविता गेय है या नहीं?

२—कविता भाव है तो छन्द की उसे आवश्यकता ही क्या है?

पहला प्रश्न : जब हम गेयता का विरोध करते हैं तब यह मानते हैं कि काव्य को सङ्गीतात्मक मनोरंजन की आवश्यकता नहीं है। न उसे एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक सहज रूप से पहुँचने की ही आवश्यकता है।

दूसरा प्रश्न : जब हम केवल भाव को ही काव्य मानते हैं तब भाव की अभिव्यक्ति को शब्द के अतिरिक्त साधन से मानते हैं, जब कि शब्द ही भाव का शरीर है। छन्द उस शब्द समूह का एक सुललित रूपमात्र है, जो कि काव्य को रसात्मक बनाने का माध्यम है।

इसका यह अर्थ नहीं कि 'प्रसाद' की 'प्रलय की छाया' जैसी रचनाएं मुक्त छन्द होने के कारण कविता नहीं है। नहीं। वह सुन्दर रचना है। परन्तु उसमें तुकान्त रूप न होने पर भी छन्द की गति है, और वह प्रवाह उसमें जो ओज, प्रसाद और माधुर्य्य भरता है, बन्दनीय है। मुक्त छन्द तभी कविता है, जब उसमें प्रवाह हो।

: ८ :

काव्य का वैविध्य तथा विषय बहुलता भी समाज की परिस्थिति पर ही निर्भर रहते हैं। प्राचीनकाल से अब तक के काव्य को देखने पर यह स्पष्ट पता चलता है कि एक युग विशेष में एक ही प्रकार की कविता का सृजन हुआ है।

संस्कृत और हिन्दी काव्य का विकास इस प्रकार समझा जा सकता है।

[क] पूर्व वैदिक काव्य

- (१) इतिहास तथा कथाएँ तथा भूगोल विषयक वर्णन अधिक
- (२) वीरपूजा
- (३) दर्शन मनन
- (४) धार्मिक स्तुतियाँ
- (५) प्रकृति वर्णन
- (६) कर्मकाँड का परिचय
- (७) प्रार्थनाएं

इस काल के बाद—

[ख] उत्तर वैदिक काव्य

- (१) इतिहास संबंधी कथाएं कम और अर्चना विषयक वर्णन अधिक।
- (२) देवपूजा
- (३) दर्शन के स्थान पर कर्मकाँड का आधिक्य।
- (४) स्तुतियाँ
- (५) प्रार्थनाएं
- (६) सामाजिक व्यवस्था तथा राजनीति का अधिक वर्णन।

उत्तर वैदिक काव्य के अनन्तर—

इसके पश्चात् अंतर्भुक्ति काल में—

महाभारत के बाद—

रामायण युग

जिसके विषय में सब ही प्रचलित रूप से जानकारी रखते हैं और हम विस्तार से पहले तथा अन्यत्र भी विवेचन कर चुके हैं। अतः इसको दुहराना आवश्यक नहीं है कि रामायण ने साहित्य में आदिकाव्य की संज्ञा को क्यों प्राप्त किया।

रामायण के बाद के युग में साहित्य साहित्य की उस परिधि में आगया जिसे आज साहित्य कहते हैं। अतः इस युग के विषय में संक्षेप में इतना कहना अलं है कि यह ही क्लासिकल युग कहलाया और दरबारी काव्य के रूप में इसका अन्त हो गया। हिन्दी में साधारणतः आचार्य्य रामचन्द्र शुक्ल कृत काल विभाजन मान्य है। यद्यपि वह पुराना पड़ गया है और उसमें सुधार की बहुत आवश्यकता है, फिर भी हम उस पर यहाँ अधिक विचार नहीं करेंगे क्योंकि वह विषयान्तर करेगा। हिन्दी काव्य को प्रधान भावों के आधार पर न बाँट कर धाराओं के रूप में देखना अधिक उचित होगा जैसा कि बाबू

श्यामसुन्दरदास ने किया था और वे धाराएं प्रचलित ही हैं। इस विषय पर विस्तार से हम कभी लिखेंगे।

काव्य की भिन्न कालों की प्रगति में अभाव के कारण स्पष्ट ही उस युग की माँग पर निर्भर करते थे, जिसमें कि काव्य विशेष लिखा गया था। सामंतीय काव्य में अधिकाँशतः निम्नलिखित रूप ही प्राप्त होते हैं—

(१) प्रशस्ति काव्य
(२) प्रार्थना परक काव्य
(३) विलास परक काव्य
(४) रहस्यात्मक अनुभूति परक काव्य

काव्य ने अपने सामाजिक पक्ष को यदि थोड़ा प्रगट भी किया तो वह इतिवृत्तात्मक काव्य में। इसके अतिरिक्त विशेष रूप नहीं प्राप्त होते।

इस युग के बाद ही जीवन का वैविध्य हिन्दी काव्य में प्रतिबिंबित होने लगा, जो छायावाद के कूप में जा गिरा और अब जब कि प्रयोगवाद के आवरण में छोटे किस्म के कवि कविता को गद्य बना रहे हैं, नये कवि ही उसकी रक्षा करने को उद्यत दिखाई दे रहे हैं।

नरेन्द्र, बच्चन, दिनकर, अञ्चल आदि छायावाद के कवि यद्यपि जीवन की उस विराट व्यापकता को अभी तक नहीं पकड़ पाये हैं फिर भी छायावादी कवियों से इसलिये अच्छे हैं कि उनकी मानसभूमि छायावाद की उलझनों से मुक्त है।

जानकीवल्लभ शास्त्री कहते हैं—

छूटने पर नाव, जो पहुँचा पुलिन पर,
पार जाना है उसे भी, जान लो तुम,
राह सीधी छोड़ कर पिछले हुए की
बावली-सी बेकली को मान लो तुम,
घोर तम में 'ध्रुव' निरखता चल रहा था
और अब तो भोर होता जारहा है।

(ध्वनि)

इस भावना ने नयी हिन्दी में अपने को जितना मुखर किया है वही हमारे

साहित्य की नयी शक्ति है और यह सत्य है कि जिन्होंने पार्टियों के पटवारियों जैसे रोजनामचों को ही साहित्य नहीं माना है उन्होंने भारतीय जीवन के उस मूल मानवीय तत्त्व को समझा है जो प्राचीनकाल से अब तक आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'रागात्मकता' को जगाता आया है। काव्य में मानवीयता नयी नहीं है परन्तु सामाजिक आधार का विश्लेषण अवश्य बदल गया है। ०

भरत ने काव्य को बहुत व्यापक दृष्टि दी थी। बाद में जीवन के दृष्टिकोण को जब दरबारों की दीवारों से कुण्ठित होना पड़ा तब भक्ति, सौन्दर्य और प्रेम का वह भी सहज रूप समाज में नहीं रह सका, जो कि पहले था। धीरे-धीरे वासनापरकता ने प्रेम को ढँक लिया। उस समय भक्ति काव्य को अलग होना पड़ा। पारलौकिक को संस्कृत काव्य में एहिकता का रूप दिया गया था। कालिदास ने देवताओं को मानवों की भाँति चित्रित किया था। परवर्ती सामन्तकाल में फिर भाग्यवाद ने ज़ोर पकड़ा और मनुष्यों को फिर देवता का स्वरूप दिया जाने लगा।

'भारतीय रस शास्त्र के सर्व प्रथम आचार्य महामुनि भरत के मतानुसार इस जगत में जो कुछ पवित्र, उत्तम, उज्ज्वल एवं दर्शनीय है, वह सब शृङ्गार रस के अन्तर्गत है। इस व्याख्या के अनुसार शृङ्गाररस के स्वामीभाव 'रति' का एक अङ्ग होने के कारण 'भक्ति' भी शृङ्गार के अन्तर्गत आ जाती है। शान्तरस का स्वामीभाव 'निर्वेद' है जो भक्तिकालीन कवियों का अन्तिम लक्ष्य नहीं है। इसलिये भी भक्ति कवियों द्वारा शान्तरस की अपेक्षा शृङ्गाररस को अपनाना सर्वथा उचित एवं सङ्गत था।'१

इस विभेद का मूल कारण यही था कि दोनों पक्ष अलग-अलग हो गये थे। कालिदासके देवता, मनुष्यों का सा काम करते हुए दिखाई देते हैं, परंतु कालिदास काली के दास होने पर भी तुलसीदास की भाँति बार-बार राम का ईश्वरत्व याद दिलाने की प्रवृत्ति नहीं रखते। कालिदास का कुमार तारकासुर का बध करने को ही उत्पन्न हुआ था। उसका जन्म लोक-कल्याण की मर्यादा

---

० विस्तार के लिये देखिये लेखक कृत—प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड

१. भक्त कवियों का शृङ्गारिक काव्य. प्रभुदयाल मीतल. ब्रजभारती. सं० २,००६. पृ० २।

के लिये हुए था। फिर भी उनमें जीवन का स्वतन्त्र स्पन्दन है। यही पूर्ववर्त्ती और परवर्ती सामन्तीय दृष्टिकोण में भेद था जिसे अपने ढङ्ग से पं० हजारी-प्रसाद द्विवेदी यों कहते हैं कि पहले एक मौलिकता थी जो बाद में चली गई थी और उसका स्थान रूढ़ियों ने ले लिया था।

मध्यकाल में एक ही विषय को दो दृष्टिकोणों ने दो रूप दे दिये।

'किसी भी रस का आधार उसके 'आलम्बन' पर निर्भर है। शृङ्गाररस के आलम्बन 'नायक नायिका' होते हैं। भक्तकवि और उनके परवर्ती रीतिकालीन शृङ्गारी कवियों के काव्य में मुख्य भेद आलम्बन का ही है। भक्त कवियों के आलम्बन उनके इष्टदेव परब्रह्म श्रीकृष्ण और जगजननी श्री राधा हैं, किन्तु रीतिकालीन शृङ्गारी कवियों के आलम्बन लौकिक नर नारी हैं। इस आलंबन-गत भेद के कारण ही भक्त कवियों के शृङ्गारिक काव्य में जो पवित्रता एवं अलौकिकता है, परवर्ती रीतिकालीन शृङ्गारी कवियों के काव्य में उसकी गन्ध भी नहीं है। २

अलौकिकता में कालिदास में पवित्रता और अपवित्रता का प्रश्न ही नहीं उठता। वह तो 'जगतः पितरौ' कह कर पार्वती परमेश्वर का एक स्थल पर स्मरण करता है, और फिर उन्हीं के यौन जीवन पर अन्यत्र प्रकाश डालता है।

विभेदीकरण की यह प्रवृत्ति अपने अनेक रूपों में विकास करती हुई आई है और उसने अपना प्रभाव डाला है। यह विषय बहुत बड़ा है और इसे हम संक्षेप में यहाँ समझाने का प्रयत्न नहीं कर सकते। इतना मानना आवश्यक कि सामन्तकाल का पूर्व भाग जीवन की प्रगति का पथ था जब कि उत्तरकाल में उत्पादन के साधन न बदलने के कारण विवशता थी और इसीलिये ह्रास-प्राय रूप में रूढ़िवाद उठ आया था।

काव्य के प्राचीनकाल में जब विभेद हुए तो विद्वानों ने काव्य के रूपों को स्पष्ट ही भाव से बांधा। जितने भी अन्य विषय कविता या छन्द में बाँधे जाते थे, उनको अलग कर दिया गया। पहले आयुर्वेद भी कविता के रूप में ही लिखा गया था, बल्कि जो भी ज्ञान था वह श्लोक बद्ध ही रखा गया था।

---

२. भक्त कवियों का शृङ्गारिक काव्य, प्रभुदयाल मीतल ब्रजभारती, सं० २००६ सं पृ० ३

किन्तु कालांतर में विषयों को उनकी विविधता के अनुसार बाँट दिया गया। परवर्त्ती वैदिककाल में उस वैविध्य को एक रूप में बाँधने की भी चेष्टा की गई जिसे इस प्रकार बताया गया:

छन्दः पादौ तु वेदस्य
हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते,
ज्योतिषामयनं चक्षु
निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते,
शिक्षां घ्राणं तु वेदस्य
मुखं व्याकरण स्मृतम
—चरण व्यूह परिशिष्ट सूत्र,
द्वितीया कण्डिका शौनक।

छन्द, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा, व्याकरण यह वेद के षडङ्ग माने गये और उन्हें उनकी यथोचित मर्यादा भी प्रदान की गई। किन्तु यह आस्तिक रूप दर्शन सामन्त काल के उदय के समय भारत में एक आश्चर्य्यजनक वस्तु दिखाई देती है। हम पहले और अन्यत्र भी बता चुके हैं कि नये उत्थान का मूल संदेहवाद था। संदेहों की पराकाष्ठा नकारात्मकता में हुई और चारवाक ने जन्म लिया। बुद्ध अनात्मवादी होते हुए भी अभौतिकवादी थे। किन्तु चारवाक भौतिकवादी था। उसने ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म आदि किसी को भी मान्यता नहीं दी और वह लोकायत धर्म का प्रचारक हुआ। लोकायत धर्म उसका नाम पड़ा इसलिये कि लोक उसे मानने लगा था। लोक का तात्पर्य यहाँ समुदाय से है। बर्बर दास व्यवस्था के अंत के समय में यहाँ दार्शनिकों ने पुराने को एक दम अस्वीकार कर दिया। किन्तु वह भौतिकवाद जड़वादी था। चल नहीं सका। वह उस समय के समाज की समस्याओं को किसी भी प्रकार हल नहीं कर सका, क्योंकि जो निरंकुशता चारवाक जन समाज को देता था, वही उच्च वर्णों को भी मिल जाती थी।

मार्क्स से पहले के भौतिकवाद के विचारक मूल ज्ञान के प्रश्नों को मानव समाज से अलग करके देखते थे, उसे मनुष्य के ऐतिहासिक विकास से अलग कर देते थे और ज्ञान और सामाजिक व्यवहार का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध नहीं

समझ पाते थे, अर्थात् वे ज्ञान का उत्पादन और वर्ग संघर्ष से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध नहीं जोड़ पाते थे।*

यह उनकी युग सीमा थी। उनके समय में विज्ञान की इतनी उन्नति नहीं हुई थी। वे जो कुछ सोचते थे, उसे कार्य्य रूप में बदल देने के साधन उनके पास नहीं थे। फिर उनका भौतिकवाद आगे के विकास को ध्यान में नहीं रखता था। जो कुछ था वे उसको तभी स्वीकार करते थे, जबकि उसका प्रमाण प्रत्यक्ष हो। अनुमान की गुन्जायश वे नहीं देते थे। उच्चवर्णों का दर्शन अनुमान पर आधारित था। वे साराँशवाद को थोपते थे, जिसे चारवाक स्वीकार नहीं करता था। उच्छृंखल आनन्द की भावना इतनी वैयक्तिकता का पोषण करती थी, कि समाज में उसके रहते हुए किसी नियमन को आशा नहीं रह जानी थी। मानवीय भावों को इस प्रकार कहीं प्रश्रय नहीं मिलता था। मनुष्य ने जो समाज बनाया था, उसमें धन की अपनी मर्यादा विकास करते करते बन गई थी। उसी धन से समाज में वर्गों के सम्बन्ध स्थापित थे और उसी के अनुरूप नये अधिकारों के विभाजन और संतुलन का प्रश्न था। उत्पादन के साधन भी उसी पर आश्रित थे। यदि चारवाक का 'ऋणं कृत्वाघृतं पिवेत' ही स्वीकार कर लिया जाता, तो आदान-प्रदान का चक्र ही रुक जाता।

इतिहास का वह भी एक रूप था, जिसने एक अति प्रतिक्रिया के रूप में अपने को प्रदर्शित किया। चाहे उसका मूल यही था कि वह कर्मकाण्ड के विरुद्ध एक संघर्ष था, तर्कवाद का उत्थान था, जो पुरानी मान्यताओं को स्वीकार नहीं करना चाहता था, किन्तु उसका एक पक्ष यह भी था कि जिन सुन्दर और मानवीय भावों का क्रम विकास में उत्थान हो रहा था, उन्हें पतन का भय दिखाई देने लगा था। यही कारण था कि वह चल नहीं सका।

आधुनिक भौतिकवाद उस भौतिकवाद से भिन्न है। इसमें जड़वाद को प्रश्रय नहीं है। इसमें उच्च अनुमान अंश को काट दिया गया है जिसके आधार पर उच्च वर्ग शोषण को प्रश्रय देते थे। सम्पूर्णानन्द ने इस विषय की व्याख्या यों की है: "मूलभूत का स्वभाव परिवर्त्तनशील है। वह इस स्वभाव

---

* कनसर्निंग प्रैक्टिस, माओत्सेतुङ्ग पृ० १

की अन्तःप्रेरणा से अवस्था से अवस्थान्तर में परिणत होता हुआ आज इस विशाल जगत के रूप में आ गया है। परिणाम होता तो बराबर रहता है परन्तु इतने धीरे-धीरे होता है कि पूर्व और उत्तर अवस्थाओं में बहुत भेद नहीं होता। काल पाकर इन छोटे-छोटे परिवर्तनों का योग हमको नयी अवस्था के रूप में प्रतीत होता है।......धर्म परिवर्तन (पानी से भाप बनना) की इस प्रक्रिया को द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया कहते हैं। परिवर्तन का क्रम अन्यथा भी सोचा जा सकता है परन्तु औरों की अपेक्षा यह प्रक्रिया अधिक पुष्ट और विस्तृत है। इसको सिद्धान्त रूप से उपस्थित करने का श्रेय मार्क्स को है। १

परिवर्त्तन का क्रम मार्क्स ने सोच नहीं लिया था, विज्ञान की खोजों के आधार पर निर्धारित किया था। जैसे बोध संज्ञाकी ज्ञप्ति सर्वमान्यता२ से होती है वैसे ही उसने देखा कि यही इतिहास पर भी लागू होता है या नहीं। वह हुआ। उसने निष्कर्ष निकाले। उसने समाजशास्त्र के विषय में यह नहीं कहा कि हर देश में विकास एक सा ही होना आवश्यक है। सम्पूर्णानन्द ने परिवर्त्तन का क्रम अन्यथा प्रकट भी नहीं किया है। जबतक अन्य क्रम का पता नहीं चलता तब तक के लिये ही मार्क्स की बात सत्य है। बाद में वह भी इतिहास में वैसी ही रह जायेगी, जैसे अन्य विचारकों की बातें आज मतान्तर अध्ययन की बातें बनकर तत्कालीन समाजों के अध्ययन की ओर इङ्गित करने वाली बन कर रह गई हैं।

---

१ चिद्विलास—सम्पूर्णानन्द, पृ० १२७–१२८।

२ सामान्यतः पदवृत्तिज्ञानजन्यतदुपस्थितित्वेनैककारणाता कल्पनन्तु न सम्यक् निर्विभक्तिककुम्भपदादितः संख्योपस्थितौ तद्गृहीतवृत्ति क घटादिपदे तत्तद्विभक्त्यन्तत्वज्ञानवतः पुंसो घटादौ संख्यान्वय बोध प्रसङ्गात्। घटपटादिज्ञानजन्यैकत्वाद्युपस्थितित्वेनैकत्वादि विषयक शाब्दबोधहेतुतां कल्पयित्वा विभक्ति घटादिपदानुपूर्वीज्ञानतादृशोपस्थित्योः परस्पर सहकारेण फलजनकताया अवश्याभ्युपेयत्वादिति वाच्यम्। घटादिपदस्यैकत्वादो लक्षणाग्रहसत्वे घटः प्रमेय इत्यादिवाक्यादेकत्वं प्रमेयमित्याअन्व बोधस्य सर्वसम्महतया तदनुरोधेनैकत्वादिविषयकशाब्दबोधे घटादिपदजन्यैकत्वाद्युपस्थितित्वेन हेतुतायाः सर्वसम्मतत्वात् व्युत्पत्तिवादः। गदाधर भट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ १७, पृ० २४.

मार्क्सवाद एक व्यक्ति का दर्शनशास्त्र नहीं है। उसमें आप्त वाक्य की ठौर नहीं है। वह तो निरन्तर विकसित होने वाली प्रणाली है जो अपनी ग़लतियों को ठीक करती ही चलेगी। उसमें मूलभूत के दृष्टिकोण का परिवर्तन तो विज्ञान की नवीन खोजें ही कर सकती हैं।

जिस प्रकार दार्शनिक हौब्स राष्ट्र की उत्पत्ति में भगवान का हाथ न मान कर भी अत्याचारी राजा के अत्याचारों को खुदा की मार कह कर जनता से उसे सहन करने को कहता था, उसी प्रकार की बात आज कुत्सित समाज शास्त्री भी कहते हैं। वे मार्क्स के नाम की दुहाई देने से रोककर, स्वयं मार्क्स को ही अक्षरशः देखते है। हिन्दी का दुर्भाग्य है कि ऐसे कुत्सित समाज शास्त्री मार्क्स वादी कहलाते हैं, यद्यपि अब उनकी वास्तविकता, उनकी चिंतन प्रणाली की यांत्रिकता, प्रगट होती ही जा रही है।

भावात्मक विरोध और बात है, क्रियात्मक विरोध और बात है। बहुधा मूलभूत परिवर्त्तन की व्याख्या करने वाले मार्क्सवाद को सोवियत् रूस से ऐसे एकाकार करके देखते हैं कि वे रूस को प्रारम्भ से अन्त तक अमानवीय रूप से आदर्श बना लेते हैं। ऐसे लोग नितांत भूल ही करते हैं।

रूस के एक लेखक ने अपनी नयी व्यवस्था के विषय में लिखा है :

समाजवाद के पूँजीवादी आलोचक पहले भी यह आरोप लगाते थे और अब भी लगाते हैं कि समाजवाद प्रतियोगिता, होड़, तथा व्यक्तिगत योग्यता और पहलक़दमी को कोई मौका नहीं देता और उनका दावा है यह पहलक़दमी केवल पूँजीवादी व्यवस्था में संभव हो सकती है जब कि वैयक्तिक सम्पत्ति और 'स्वतन्त्र' पूँजीवादी प्रतियोगिता की आजादी हो।

लेकिन जैसा कि लेनिन ने साबित कर दिया है, वास्तव में पूँजीवाद ने बहुत पहले ही 'स्वतन्त्र प्रतियोगिता' की जगह समाज के ऊपर, इज़ारेदार पूँजी (बैंक, ट्रस्ट और बड़े-बड़े कार्पोरेशन आदि) की सत्ता को, गिने चुने महाजनी पूँजीपतियों की तानाशाही को थोप दिया था।*

---

* समाजवाद और व्यक्ति ए. डी. कम्मारी अनुवादक नरेन्द्र. पृ० २२

किन्तु इस पूँजीपति वर्ग की ओर वे लोग ध्यान नहीं देना चाहते। वे इसे तो चरम शाश्वत सत्य समझते है और इसके शासन में जो उनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हरण होता है, उससे वे भयभीत नहीं होते। स्टालिन से पूछा गया था कि जब पूँजीवादी विकास के समय में नगरों की औद्योगिकता ने ग्रामों की अर्थ व्यवस्था पर अपना प्रभाव डाला था, क्या उसी प्रकार सोवियत् उद्योग जो कि नगरों में हैं, वे क्या अपना प्रभाव नयी व्यवस्था में ग्रामों की अर्थ व्यवस्था पर नहीं डालेंगे ? क्या इसीलिये उन्हें विकास करने की छूट नहीं दे दी जाये ? स्तालिन ने उत्तर दिया था कि दोनों परिस्थितियों में भेद है। पहली परिस्थिति में यद्यपि ग्राम और नगर में भेद था, किन्तु मूलभूत आर्थिक ढाँचा और उसका उद्देश्य एक ही था, जब कि अब ग्राम व्यवस्था पूंजीवादी ढाँचे और मनोवृत्ति के अवशेषों को जीवित रखती है और नगरों में सोवियत् आर्थिक पद्धति है। अतः अब दोनों में बहुत भेद है।

यही तथ्य यहाँ भी लगाया जा सकता है। वर्गवाद में जीवित अहंवाद जिस अर्थनीति, जिस संस्कृति का मूलाधार है वह पूँजीवादी विकृतियों में अपना रूप बदल सकता है, उसे इसमें कष्ट नहीं होता। वह पहले दरबारों की विकृति में था, अब वर्गों की विकृति में खप सकता है और 'कला कला के लिये' के आदर्श में अपने को छिपा सकता है, जब कि जनवाद की आधारभूमि नया रूप चाहती है।

मैं तो यही कहूँगा कि प्रगतिशील विचारधारा ही भरतमुनि के महान विचारों की विरासत धारण करने की सामर्थ्य रखती है, अन्यों ने चाहे वे किसी भी भारतीयता को धारण करें, उस मूल साधारणीकरण के महान सिद्धांत को चोट पहुँचाने की ही चेष्टा की है•।

भरत ने ही सर्व प्रथम काव्य के क्षेत्र में मनुष्य की समता के मूलाधार का प्रतिपादन किया था।

हेलवीटियस और उसके अनुयायी यह मानते थे, कि प्रतिभावान शिशु किसी भी दूसरे शिशु के समान होता है, फर्क यही होता है कि उस पर जीवन में कुछ ऐसे अच्छे प्रभाव पड़ते हैं कि वे उसके साथ रह जाते हैं, विशेषकर

बाल्यावस्था में वे प्रभाव पड़ते हैं और उसे बढ़ाते हैं, जब कि और शिशु विकास नहीं करते, और वैसे के वैसे ही प्रतिभाहीन (मूर्ख) बने रहते हैं।×

इसी विचार ने उन्नीसवीं शती में यूरोप में अपना विकास किया था, जब कि आत्मा के क्षेत्र में ईसाई धर्म ने यह बहुत पहले ही स्वीकार कर लिया था। किंतु किसी तथ्य को जीवन में व्यवहृत नहीं कर पाना, जब कि एक ओर समाज के व्यक्तियों की असामर्थ्य प्रगट करता है, उससे भी अधिक वह यह प्रमाणित करता है कि उस समाज में चिंतन इतनी प्रौढ़ता पाने का अवसर ही नहीं प्राप्त कर सका है कि उसे वह अभिव्यक्त भी कर सके और उसे कार्य्य रूप में परिणत कर सके।

जीवन के विविध रूप समाज में प्रस्तुत रहते हैं। जन्म से मनुष्य में कोई भेद नहीं रहता। सभी समान रूप से बालक बालिका होते है और जो आदतें वे सीखते हैं, वे उसी समाज से उनका ग्रहण करते हैं जिसमें वे पलते हैं और जिसमें उनकी विकासमान बुद्धि प्रश्रय पाती है।

कमीने से कमीने आदमी में कुछ न कुछ महानता रहती है। बात बात पर कसम खाने वाला सैनिक जो गोली खाने के लिये खरीद लिया जाता है, वह भी एक सैनिक का सम्मान प्राप्त करता है, जो कि रोज की कवायद और एक शिलिंग हर रोज' से भिन्न होता है।'२

उन्नीसवीं शती में एक ओर यूरोप के समाज में यह था कि यूरोप के लोग संसार को सभ्य बनाने के लिये पैदा हुए थे और दुनिया को वे ही सुसंस्कृत कर रहे थे। उस समय इङ्गलैंड में स्वयं अपने ही मजदूरों के साथ अमानुषिक अत्याचार हो रहा था। हड़ताल की बात भी उच्चवर्ग नहीं सह पाता था। विचारक अपने मानवतावादी दृष्टिकोण को लेकर नया पथ खोजने का प्रयत्न कर रहे थे। तभी कार्लायल ने कहा था:

कमीजें तभी लाभदायक हैं जब वे मनुष्य का तन ढँकती हैं, अन्यथा वे व्यर्थ हैं, असह्य और उपहासास्पद वस्तु हैं।'३

× सार्टर रिसार्टस कार्लायल पृ० ७१

२ औन हीरोज एण्ड हीरो वर्शिप पृ० ५१

३ पास्ट एण्ड प्रेज़ेन्ट पृ० १६

अपने ही उत्पादन का जब मनुष्य को लाभ नहीं है, तब उस वस्तु का मूल्य ही क्या है ? कुछ नहीं।

वस्तुतः नई विचार धारा इसी मूलभाव को लेकर चलती है कि जिसे मनुष्य ने बनाया है, मनुष्य ही उसकी सार्थकता को प्रमाणित करने का भी समान रूप से अधिकारी है।

सोवियत् रूस ने इसी विचारधारा को अपनाया है और पुराने संसार की विरासत को ग्रहण करके एक नया समाज बनाने की कोशिश की है। उसे स्वर्ग मानना तो गलती है ही, लेकिन साथ ही रूसी अपने विषय में क्या कहते हैं, यह भी न सुनना दूसरी ही भूल होगी। एक लेखक कहता है :

'परन्तु एक बात साफ है कि कम्यूनिज़्म की पहली मंजिल अब भी पूरी समानता को सुनिश्चित नहीं कर सकती, क्योंकि उत्पादक शक्तियाँ अभी तक इतनी विकसित नहीं हो पाई हैं कि सबों की सारी आवश्यकताओं को पूरा कर सकें। इसीलिये किये गए काम की मात्रा तथा गुण के अनुसार पारिश्रमिक देने के सिद्धान्त के ऊपर अभी तक चलना आवश्यक है, साधारण और दक्ष कार्यों के बीच भेद करना वांछनीय है। परिणामवश जनता की भौतिकदशा के भेद की परिस्थिति को भी अभी दूर नहीं किया जा सकता। कुछ लोग दूसरों से अधिक सम्पन्न व समृद्धिशील हों, परन्तु यह विभेद इन लोगों की सामाजिक स्थिति में कोई अन्तर पैदा नहीं करता, क्योंकि उत्पादन के साधनों पर सारे समाज का स्वामित्व है। ....'सम्पत्ति, जाति-जन्म, लिङ्ग भेद अथवा पद, यह सब नहीं, वरन् व्यक्तिगत योग्यता और व्यक्तिगत श्रम ही समाज में प्रत्येक नागरिक की स्थिति को निर्धारित करता है।'[१]

यह बात सन्देहों को दूर करती है और हमें बताती है किन विशेष परिस्थितियों में वहाँ का समाज अपना विकास करने का प्रयत्न कर रहा है। यहाँ हम उन आवश्यकताओं की बात कर रहे हैं जिनकी कि जीवन के लिये पहली आवश्यकता है। एक समय था जब इसी रूस के विषय में लेनिन ने कहा था: 'धन और वैभव सारे समय बढ़ रहा है, जबकि लाखों व्यक्ति जो इस वैभव को पैदा करते हैं, भूखे और नंगे रहते है। किसान भूखे मर रहे हैं, मज़दूर काम

१. समाजवाद और व्यक्ति. एम.डी. कम्मारी. अनुवादक नरेन्द्र पृ. २०

बिना घूम रहे हैं, जब कि व्यापारी लाखों मन गल्ला रूस से दूसरे देशों को भेज रहे हैं और कारखाने इसलिये बन्द किये जा रहे हैं कि माल नहीं बिकता उनके लिये बाजार नहीं है।'२

क्या यह समाज समृद्ध समाज कहला सकता है? लोग हमसे कह सकते हैं कि हम रूस की वकालत करने के कारण विदेशी विचारों से प्रभावित हैं, किंतु विचार में विदेश और देश क्या है?

क्या भारत में यही दुख एक दिन भारतीयों को नहीं हुआ था? भारत-दुर्दशा का लेखक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र क्या भारतीय नहीं था जिसने यही भाव व्यक्त किया था कि विदेशों को सारा धन चला जाता है, यही दुख मुझे खाये जा रहा है:

पै धन विदेस चलि जात
यही दुख भारी।

भारतेन्दु को इस देश से प्रेम था। वह स्वतन्त्रता चाहता था। उसका यह भाव क्या विदेशी ही गिना जा सकता है? भारतेन्दु से पहले तो किसी भारतीय ने ऐसे विचारों की अभिव्यक्ति नहीं की थी!!

समाज पहले जब संकुचित था, उसकी सीमाएँ भी तो संकुचित थीं। किंतु जब दायरे बढ़ने लगे तब देशों की परिधियाँ छोटी होती गईं और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपने को सुस्पष्ट करने लगा।

उस अभिव्यक्ति ने अपना चतुर्दिक विकास किया। शोषित के चिन्तन ने शोषक को भी प्रभावित किया, वैसे ही जैसे अपनी युगानुरूप परिस्थितियों में कभी आनन्दवादी आर्य्य को आर्य्येतर दुःखवाद ने प्रभावित किया था।

अभिव्यक्ति का वाह्यरूप धीरे-धीरे अपना परिमार्जन करता है। पियरे लुई का पात्र कहता है: हमारे युग में, यह सत्य नहीं माना जाता कि कोई कलाकार नौसिखिया चित्रों की एक गैलरी रखे और उसका आनंद अकेला उठाये। हर आदमी जिसके पास रेम्ब्रान्ट के तीन भी चित्र हैं उसे संसार को अपने घर में घुसाना होगा, अन्यथा उसे संसार के उन आक्रमणों को झेलने के लिये तैयार रहना चाहिये, जो कि सर्वथा उचित हैं।'

---

२. टु द रूरल पुअर, लेनिन पृ० ८।

और लिबर्व चित्रों की बात को नारी पर भी लागू करता है, जिसे किंग पौसल स्वीकार करता है।

वस्तुस्थिति में पियरे लुई कला की आत्मीयता को सामाजिक रूप देने का भाव प्रकट करता है। आगे नारी से उसकी तुलना करके वह अपने ऐतिहासिक उपन्यास की ही परिस्थिति की सीमा को प्रकट करता है। इस तुलना को हम यहाँ नहीं देखना चाहते क्योंकि वह विषयान्तर हो जायगा। जहाँ तक कला की बात है वह स्वीकार करता है कि संसार की कला सर्वमानव के लिये है और उस पर किसी व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष का सर्वाधिकार नहीं हो सकता।१

'कला कला के लिये' वाले प्राचीनों के उद्धरण देते समय यह नहीं देखते कि वे महान लेखक जीवन के मूलभूत सत्यों को कितने सहज ढङ्ग से अपना बनाकर कह देते थे। तभी होमर का ओडिसस देवताओं के विषय में जिज्ञासा सुनकर कहता है : सुनो! उसके विषय में तुम्हें चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं अलसीनूस! मैं उन अमरों जैसा नहीं हूँ जो कि विशाल आकाशपर राज्य करते हैं, न वैसा रूप है, न आकृति ही। मैं तो केवल एक मर्त्य मानव हूं। वे जिन्हें तुमने दुखी देखा वे भी मुझ जैसे ही होंगे। उनके दुखों से अधिक दुखों की बात तुम्हें बता सकता हूं, जो भगवान की मर्जी से मैंने आदि से अंत तक झेले हैं। इन दुखों के रहते हुए भी मुझे खाने दो, क्योंकि इस पेट से बढ़कर लज्जाहीन इस संसार में और कोई नहीं है। यह कमबख्त पेट! यह आदमी को मजबूर करता है कि वह इसकी याद करे, बावजूद इसके कि हृदय में कैसे भी दुःख हों, ऐसे जैसे कि मेरी छाती में भरे हैं, लेकिन पेट मुझे आज्ञा देता है कि मैं खाऊँ और पियूँ। यह मेरे सारे दुखों को भुला रहा है और कहता है कि मुझे भर।२

उन महान लेखकों पर अपने युग का प्रभाव तो था किन्तु वे अपनी शक्ति सम्प्रदायों से न लेकर जीवन से खींचा करते थे और जीवन उन्हें सत्य की ओर

१. द एडवैन्चर्स आफ किङ्ग पौसल—पियरे लुई. पृ० ४३१-४३२।
२. द ओडिसी. होमर. सातवीं पुस्तक।

खींचता था। यह सत्य भावात्मक रूप से सापेक्ष नहीं था, क्रियात्मक रूप से सापेक्ष था, गतिशील था।

प्रकृति की ओर लौटाने वाले हेनरी डेविड थोरो ने एक स्थल पर प्रकृति के विषय में कहा है : हमारे नियमों और सामंजस्यों के विचार उन्हीं उदाहरणों पर अवलम्बित होते हैं जिन्हें हम जानते हैं। पर हम कितना नहीं जानते। उनको जान लेने पर कितना अधिक आश्चर्य होगा !३

सत्य के इस अज्ञात की सुलझन को थोरो यद्यपि परमात्म में ढूंढ़ता था, किन्तु उसने प्रकृति के साहचर्य्य में जो निदान सहसा ही प्रगट किया है, वह हमारे मार्ग को आलोकित करता है, क्योंकि इसी मार्ग से हम अपने को रूढ़ियों से दूर रखने की मर्यादा प्राप्त कर सकते हैं, ताकि हम द्वन्द्वों को सदैव आगे बढ़ाने वाला समझते रहे और उन्हें ऐसे रूप में नियोजित कर सकें कि मनुष्य का ही अन्ततोगत्वा कल्याण हो सके। गुलिस्ताँ की प्रसिद्ध कहावत है कि ओ मनुष्य ! तूने सांप को जीवित छोड़कर साँप पर तो उपकार किया, किन्तु कभी यह भी सोचा कि तूने मनुष्य जाति का कितना अपकार किया है ! विचार की दुनिया भी ऐसी है। नवीनता आकर बंधन खोलती है, पुराने की जगह नवीन को उत्तराधिकार देती है। अपने संस्मरण में एडमन्ड गौस ने लिखा है कि—

बुद्धि के बढ़ने के साथ मेरे भीतर भक्ति और श्रद्धा के प्रति उपेक्षा, संदेह या विरोध नहीं पैदा हुआ।...मेरी प्रार्थनाएँ उतनी यांत्रिक और नपी तुली नहीं रहीं। हालांकि मार्मिक विचारों का जहाँ तक हो सका मैंने त्याग नहीं किया। मैं स्वयं मूल धर्म ग्रन्थों की ओर आकृष्ट हुआ और मुझे उनके प्रति दिलचस्पी और सहानुभूति थी, भले ही वह उत्कट चाव न रहा हो। बिना किसी इर्ष्या के, मुझे अपने पिता की प्रणाली में संकुचित भाव दिखाई देने लगा, जो केवल कुछ व्यक्तियों को, कुछ विशेष जागरुक शिष्यों को ध्यान में रखता था, पर जिसके पास व्यापक ईसाई बिरादरी के लिये कोई सन्देश नही था।*

---

३. वाल्डेन—हेनरी डेविड थोरो पृ० १९४।

* फादर एंड सन—एडमन्डगौस पृ० २२६

यह 'व्यापक' एडमन्ड गौस के सामने ईसाई बिरादरी का था, डा० इक-बाल के सामने इस्लाम के अनुयायियों की बिरादरी का रूप था, परन्तु इनसे आगे का 'व्यापक' सम्प्रदायानुगत होकर नहीं रह जाता, वह मनुष्य का पथ नयी दिशा में मोड़ता है।

निश्चय ही इस नये पथ की ओर मोड़ने का श्रेय विज्ञान को ही प्राप्त होता है। काव्य और विज्ञान के नये पुराने संबंध की विवेचना करते हुए एक लेखक कहता है: उपमा और रूपक कवि के विद्रोह हैं, जो दैनिक या चालू भावचित्रों के विरुद्ध उठते हैं। चन्द्रमा केवल अर्थ हीन श्वेत ढक्कन नहीं रह जाता, उसे 'रात की रानी' की संज्ञा मिलती है। सूर्य्य के अन्धकारमय प्रदेश में सौन्दर्य एक जगमगाते दीप की भांति चमकता है। एडोनिस की आत्मा नक्षत्र की भांति अमरों के निवासस्थान से पथ प्रदर्शन करने लगती है।

अन्ततोगत्व समस्त भाषा उपमा पूर्ण है। कोई वार्ता अधिक से अधिक घुमा फिरा कर सिर्फ इसका अन्दाजा दे सकती है, या प्रतीक उपस्थित कर सकती है कि वास्तव में क्या विशेष अनुभव हुआ था। लेकिन सुन्दरतम सार्थक शब्दों द्वारा, हमारे भावचित्रों और भावों के संसर्ग द्वारा, या वासनाओं और भावचित्रों के संगर्ग द्वारा, कविता निकट आती है, हमारे हृदय के निकट आती है, उतनी निकट कि संभवतः भाषा का कोई अन्य रूप, या किसी और प्रकार की भाषा नहीं आती।[२]

कविता का यह रूप क्या पुरानी धारणाओं की उस परिपाटी में सीमित रहे तभी वह काव्य कहला सकता है? नहीं। वह अपने इन उपमानों के बद-लने पर भी अपना प्रभाव नहीं खो बैठता। वह तो हृदय की वस्तु है और उसका सम्बन्ध यदि हृदय से नहीं जोड़ा जाता तो उसके लिये भी व्यक्ति वह कह सकता है जो कि राबर्ट कहता है: मेरे जूते का ध्यान करो और अपने पिछाड़े को इसकी पहुँच के बाहर रखो।[३]

---

२ आर्ट्स एन्ड द मैन—हरविन एडमन पृ० ६६

३ सेंट जौन—जार्ज बर्नार्ड शॉ पृ० ७७

कालिदास ने जब—

वल्मीकाग्रात प्रभवति धनुः

खण्डमाखण्डलस्य,

कहा था, तब क्या उसने अपने समय के विज्ञान के सत्य को काव्य से नहीं मिलाया था ? चन्द्रमा की उपमा देना और बात है, चन्द्रमा को उपमा दी हुई वस्तु के सत्य में ढँक देना और बात है। दोनों में उपमान और उपमेय का भेद लुप्त करना क्या उचित है ?

विज्ञान ने जब पुराने दृष्टिकोण से मनुष्य को जगाया तब बौद्धिक हलचल मच उठी। नयी नयी बातों ने पुरानी संकुचित दृष्टि को तोड़ दिया। एक कवि ने कहा है:

हे विज्ञान ! तू प्राचीन काल की सच्ची पुत्री है।
अपनी तीखी दृष्टि से तू सबको बदल देती है।
कवि के हृदय को अपना शिकार क्यों बनाती है,
ओ गृद्ध के समान तू ! तेरे पंख तो नीरस यथार्थ हैं।
कवि तुझसे कैसे प्रेम करे ? तुझे बुद्धिमती कैसे माने ?
तू तो उसे जगमगाते आकाश में छिपे अनन्त
खजानों को ढूँढ़ने के लिये घूमने भी नहीं देती;
यद्यपि वह अपने पंख फैलाये कितनी ऊँचाई
तक चढ़ गया था।
क्या तूने डायना को उसके रथ से नहीं उतार दिया ?
क्या तूने हमद्रयाद को वनों से निकाल नहीं दिया कि
वह किसी अन्य आनन्दमय नक्षत्र में जाकर
विचरण करे ?
.................................क्या तूने
मेरा वासंती स्वप्न छीन नहीं लिया,
जो मैं इमली वृक्ष के नीचे
देखा करता था ?*

---

* विज्ञान के प्रति—सॉनेट-एडगर ऐलैन पो०

किंतु स्वतन्त्रता का प्रेमी शैली इसी विज्ञान से कितना प्रभावित था यह क्या छिपी बात है ? वह रहस्यात्मक सत्यों के उद्घाटन की रूमानी प्यास को विज्ञान में ही बुझाने की चेष्टा किया करता था। उसने देखा था कि यह मनुष्य के संचित ज्ञान का ही विकास है।

विज्ञान ने नयी कल्पना के साथ साहित्य को नये पात्र भी दिये, यद्यपि वे कल्पना से भरे हुए हैं। फिर भी उनमें एक रोचकता तो है ही।

होमो सोपियन्स से आगे के प्राणी की कल्पना में एक लेखक ने लिखा है कि वह दस दस करके नहीं गिनेगा, संभवतः वह बारह बारह, तेरह तेरह करके गिनना उचित समझेगा।×

उन्नसवीं सदी में यूरोप के पुराने आधार जिस विज्ञान से एक दम हिल गये थे वह विज्ञान इतना बुरा क्यों प्रसिद्ध हुआ ? क्योंकि वह पूंजीवाद के हाथों में चला गया। खेती विज्ञान में रूस ने जो अद्‌भुत ईजादें की हैं, वे ही प्रमाणित करतीं हैं कि विज्ञान कितना सहायक हो सकता है, यदि उसका उचित उपयोग हो। विज्ञान की तुलना स्पष्ट ही छापेखाने के विकास से की जा सकती है। जब कैक्स्टन ने छापा बनाया था तब लोग उससे प्रसन्न नहीं हुए थे। फ्रान्स में पादरी ज्ञान के सुलभीकरण के विरुद्ध थे। परन्तु उसने संसार के लिये ज्ञान का मार्ग खोल दिया।

एक ओर पूँजीवाद शोषण की संस्कृति को अपने व्यवहार में ला रहा था, पुराने आधारों को तोड़ रहा था। दूसरी ओर वह नये विचारों को ऐसे रखना चाहता था कि सर्वसाधारण की वस्तु घूम फिर कर व्यक्तियों के हाथ का साधन बन कर रह जाये।

उस समय यूरोप में विभिन्न प्रकार के मत उठ खड़े हुए थे जो डाँवाडोल परिस्थिति में थे।

ऑस्कर वाइल्ड की रचना इस का अच्छा दिग्दर्शन कराती है। वह लिखता है :—

अर्नैस्ट : तब क्या हम कुछ नहीं करने के लिये जीवित हैं ?

× औडजौन—ओलैफ स्टेपलडन

गिल्बर्ट : कुछ नहीं करने को ही चुने हुए लोग जीवित रहते हैं। कार्य्य सीमित और सापेक्ष है। जो शान्ति से बैठता है और देखता है, एकान्त में घूमता है और स्वप्न देखता है उसकी दृष्टि असीम और पूर्ण होती है। लेकिन हम जो इस अद्भुत युग के अन्त में जन्मे है, हम एक साथ अत्यन्त सुसंस्कृत हैं और आलोचक भी, हम बौद्धिक रूप से अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी हैं, और पूर्ण-सुखों के प्रति जिज्ञासु हैं कि हम जीवन के बदले में जीवन के प्रति किसी कल्पना या क़यास को स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं।......दर्शन के तत्त्व हमें संतुष्ट नहीं करते, और धार्मिक भक्ति अब पुरानी पड़ गई है। विद्वान दार्शनिक के माध्यम से जो संसार 'सर्वकाल और सर्वसत्ता का दर्शक' बनता था, वह अब आदर्श संसार नहीं रहा है, वह केवल अदृश्य विचारों का संसार रह गया है। जब हम उसमें प्रवेश करते हैं तो विचार के ठण्डे गणित के बीच क्षुधित रहते हैं। देवताओं के नगरों के द्वार अब हमारे लिये बन्द हो गये हैं। उनके द्वारा अब अज्ञान द्वारा रक्षित होते है और उनमें से गुज़रने के लिये हमें वह सब समर्पित करना पड़ता है जो हमारी प्रकृति में श्रेष्ठ और दैवी कहला सकता है। यह काफ़ी है कि हमारे पूर्वज उस सब में विश्वास किया करते थे। हमारी योनि की श्रद्धा-शक्ति का वे अन्त कर चुके हैं, जिससे वे डरते थे, वही संदेहवाद वे हमें विरासत में दे गये हैं। नहीं...हम फिर साधू सन्तों के पास लौट कर नहीं जा सकते। एक गुनहगार से सीखने को कहीं अधिक है। हम दार्शनिक के पास नहीं लौट सकते, न किसी रहस्यवादी के पास ही, क्योंकि वह हमें भटका देता है। ......सौंदर्य्यवादी धारणा और प्रवृत्ति वाले के लिये वह सदैव तिरस्कार योग्य है, जो धूमिल है, अस्पष्ट है। ग्रीक एक कलाकार जाति थी, क्योंकि अगणित और असीम के ज्ञान का उन्हें बोध था। अरस्तू की भाँति, काँत को पढ़ने के बाद गेटे की भाँति, हम कुछ ठोस चाहते हैं, और उससे कम कुछ भी हमें सन्तोष नहीं दे सकता। +

चुने हुए लोगों की कुछ नहीं करने की प्रवृत्ति यहाँ तो बौद्धिक क्षेत्र में स्वीकृत हुई, किन्तु पूंजीवादी व्यवस्था ने अपने उच्च वर्ग के लिये उसे व्यवहार जगत में भी उतार लिया। जिस समाज में धन की प्रचुरता सीमित करों में

+ द क्रिटिक एज़ आर्टिस्ट ऑस्कर वाइल्ड, भाग २. पृष्ठ ४०–४१–४२

थी, वह समाज जो कि पुराने मानवीयता के विचारों के स्थान पर मुद्रा को रख चुका था, उसने सन्देह वाद को प्रश्रय दिया और रहस्यवाद के उस पक्ष को दूर कर दिया, जो कि विजेता को अतिचार करने से रोकती थी।

यहाँ विषयान्तर होने के भय से हम इस विषय में नहीं जायेंगे कि किस प्रकार अपनी सीमा में बँध कर एक समय रहस्यवाद ने भी शोषित के संबल का रूप धारण किया था, किस प्रकार वैयक्तिक भावना होने पर भी उसने मानवीयता के व्यापक आधारों के द्वारा शोषक वर्ग को अपनी अभावात्मक गरिमा से चुनौती दी थी और वैभव की निरंकुशता के आगे सिर झुकाने से इन्कार कर दिया था, किन्तु यह अवश्य कहेंगे कि ऑस्कर वाइल्ड ने जो अन-जाने ही इस सत्य को दुहराया है वह दोनों पक्षों को लेता है। रहस्यात्मकता ने श्रद्धा की नींवें डाली थीं, परन्तु उसने रूढ़ियों का तिरस्कार भी किया था। बल्कि इस्लाम के रूढ़िवाद को तोड़ते समय सूफियों ने रहस्यवाद का ही सहारा लिया था। एक अन्य लेखक ने रूढ़िवाद का स्पष्ट स्वरूप इस प्रकार दिखाया है :—

हॉल केन की रोमा जब पत्र खोलती है तो पढ़ती है :

···मेरा हृदय वेदना से भर जाता है जब मुझे विचार आता है कि इन विस्फोटों से हमारा देश बुराइयों से भर जायेगा। लेकिन जनता और उसके ऊपर अत्याचार करके वालों के बीच में गिरजे को जनता का असली रक्षक होना चाहिये, मगर गिरजा तो बड़ा निराश करता है और विगत की प्रार्थना में रत है। संसार की इस हलचल में, ऐसी अभूतपूर्व अवस्था में भी, गिरजा ईश्वर के नाम पर क्या कर रहा है? भजन गाता है, पादरी सुनहली ज़री के कपड़े पहनते हैं, जब कि संसार के अधिकाँश लोग आध्यात्मिक और शारीरिक भूख से मर रहे हैं। कोई बात नहीं। भगवान भला है और वह अपने आपको दो जलती मोमबत्तियों और लैटिन भाषा के कुछ शब्दों द्वारा छलने नहीं देगा, वह सहज ही धोखे में नहीं पड़ेगा।[१]

धर्म सदैव उच्चवर्गों के हाथ का खिलौना बन गया है। क्या भारतीय संस्कृति के विद्यार्थी इस सत्य को झुठा सकते हैं? क्या आज पहली बार समाज

---

१ द इटरनल सिटी पृ० ४३०–४३१

विकास करने की चेष्टा कर रहा है ? जब भारत ने साधारणीकरण का सिद्धाँत प्रतिपादित किया था तब उसने पुराने रसवादी आचार्यों के नाम भी गिनाये थे। यह प्रगट करता है कि यह प्रयत्न हठात् भरत के समय में नहीं हुआ। इसकी भी अपनी परम्परा थी जो क्रमशः ही पूर्ण हो सकी, धीरे-धीरे भरत तक आकर ही वह विचार सर्वमान्य हो सका। तुलसीदास को तो भाषा बदलने पर समाज के उच्चवर्ण का विरोध सहना ही पड़ा था। स्वयं खड़ी बोली के प्रारंभिक कवियों को ब्रजभाषा के हामियों का विरोध रोकता था। समाज ने कब विकास करने का यत्न नहीं किया ? ज्ञानेश्वर, कबीर, तुकाराम, चंडीदास, इन सबके जीवन में इनका विरोध क्यों हुआ ?

परन्तु हम यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि नयी विचारधारा साहित्य के क्षेत्र में केवल राजनीति में समाप्त नहीं हो जाती।

ज़्हदानोफ़, रूसी राजनीतिज्ञ, ने कहा था—

जनता, राज, और पार्टी, साहित्य को आज के जीवन से दूर नहीं रखना चाहते, वे चाहते हैं साहित्य सोवियत् जीवन के समस्त अङ्गों पर अपना हाथ बढ़ाये··· पार्टी की केन्द्रीय कमिटी चाहती है कि हमें आत्मा की संस्कृति बहुतायत से प्राप्त हो; क्योंकि वह यह स्वीकार करती है कि इस 'संस्कृति का धन' प्राप्त करना है। साम्यवाद का एक मुख्य ध्येय है, अर्थात् सुसंस्कृत होना एक महान संपत्ति को प्राप्त करना है···२

संस्कृति का धन सचमुच सबसे बड़ा धन है। सभ्यता बाह्यजीवन का उपादान है; संस्कृति मानसभूमि है। मैक्समूलर ने जब वेदान्त को समझाया था तब उसने गर्व से कहा था कि जिन भारतीय ऋषियों ने वेदान्त के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था वे काले थे और यूरोपीय लोगों से सांस्कृतिक स्तर में निचली श्रेणी के थे (द वेदान्त फ़िलॉसफ़ी मैक्समूलर पृ० १०० कलकत्ता)। यह ग़लत है। मैक्समूलर इसीलिये ऐसा कह सका कि यूरोप उस समय शासक था। संस्कृति मनुष्य के आचरण मूलक जीवन को सुघर बनाती है। वह मनुष्य की वह शक्ति, वह चेतना है, जो कलाकार को मानवीयता की ओर लाती है, और वही गतयुगों की सभ्यता में उच्चवर्गों के प्रभुत्व से टक्कर लेती रही है।

२ टेन इयर्स आफ़ सोवियत् लैटविया पृ० २४५. लेखक जे० काल्जबर्जिन्स

वही संस्कृति अब नया रूप चाहती है, नया जीवन प्रस्तुत करने के लिये उठ रही है।

संस्कृति का पक्ष स्वतन्त्रता की कामना की ओर रहा है।

भारतीय सामंतकाल में भी कलाकार अपने को एक सीमा तक झुका पाया था ऐसे ही जैसे सामन्तीय व्यवस्था में रहने वाला शेक्सपियर था। उसने जीवन की अनुभूतियों की गहराई को देखा था।

दक्षिण भारत के शिल्पियों के विषय में एक विद्वान ने लिखा है:

'किसी भी नायक की पाषाणाकृति में उसकी मुख-मुद्रा अङ्कित नहीं है। शिल्पी का ध्येय यह रहा है कि नायक के वीरतापूर्ण कार्य्य को अङ्कित करे या उसकी युद्धभूमि से स्वर्ग तक की यात्रा को अङ्कित करे। ....शिल्पियों को अपने काम के लिये प्रचुर पुरस्कार प्राप्त होता था।'[१]

भारतीय संस्कृति की अर्थ व्यवस्था के कारण अवश्य ही जातिभेद (वर्णाश्रम) की बात रही है, वह इसलिये कि उत्पादन के साधन ही इस रूप के अनुसार थे कि वे वैष्णव विचारधारा से भी नहीं बदले जा सके, परन्तु यहाँ नैकट्य की भावना को ही अधिकांश सम्मानीय समझा गया है। रावण को पराजित करने वाले राम को भी इसीलिये भारत में इतनी पूजा प्राप्त हुई थी कि उन्होंने जातीयभेद को मिटाने की चेष्टा की थी। भारत में निरंकुशता को काव्य ने कभी अच्छा नहीं कहा। यह सत्य है कि कहीं-कहीं वर्गस्वार्थ की रक्षा की प्रशस्ति मिलती है किन्तु बहुतायत से ऐसा नहीं होता। इसका कारण यह है कि सामन्तीय व्यवस्था में मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध रहता था।

इसकी तुलना में साहित्य में बर्बरता की प्रशस्ति सुनिये, जहाँ यूरोप के, सभ्यता के फैलाने वाले लोग, लुटेरे बनकर अमेरिका जाते हैं और उनके द्वारा किए हुए हत्याकाण्ड को वहाँ के लेखक प्रकट करते हैं:

हेनरी ने कहा: शायद यह गोरा आदमी है। देखो कैसी घुड़सवारी

---

१. साउथ इंडियन पोर्ट्रेट्स इन स्टोन एण्ड मैटिल. पृ० ४३. लुज़ाक लंदन. टी० जी० अखमुथन।

२. द आरेगन ट्रेल—फ्रान्सिस पार्कमन—पृ० ११४।

करता है। इण्डियन इस तरह कभी नहीं चढ़ता। देखो न ! उसकी ज़ीन के अगले हिस्से पर उसकी बन्दूक साफ़ दीख रही है।२

बन्दूक का साफ दिखाई देना यहाँ जातीय अभिमान हो गया है। इसी लुटेरी प्रवृत्ति का विकास आज पूँजीवाद का विराट दैत्य बन गया है, जिसकी छाया में आज के लेखक भी उसी बर्बरता की प्रशस्ति गाते हैं और धर्म की बात करते हैं। धर्म का मध्यकालीनरूप जो मानवतावाद लिये हुए था उसे एक और लेखक दिखाता है :—पोप कहता है :

मेरे पुत्र ! धर्म तर्क का विषय नहीं। वह एक ऐसा विषय है जो तर्क के परे है। वह आदमी की आत्मा में ऐसे आता है जैसे वृक्ष पर कुहरा ओस का रूप धारण करता है.........बुद्धि संसार के शासन के लिये आवश्यक है, किन्तु उसकी सत्ता बनाये रखने को सौन्दर्य की आवश्यकता है..........कोई विश्वास जीवित नहीं रह सकता जब तक वह सुन्दर नहीं हो...... ।३

इस रूप में तत्कालीन भावव्यञ्जना के आधार मिलते हैं जोकि उस समाज की नीवों में अपना काम कर रहे थे। जनता में धर्म का प्रचलन एक नैतिकता का आधार रखता है, जिससे जनता डरती है।

लुई ममफ़ोर्ड ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तकों में इसे स्पष्ट दिखाया है। उसका दृष्टिकोण वैज्ञानिक है। वह किसी मतवाद को पहले से दृढ़ करके नहीं चलता। वस्तुस्थिति का अध्ययन करके ही अपने निष्कर्ष निकालता है। उसका कहना है कि समाज के विकास में धर्म के रूप में जनता ने जिस सत् की स्थापना को स्वीकार किया वह उसको नैतिकता की मर्यादा देती थी और मनुष्य की सौंदर्य की भावना उसमें अपना जीवन-सम्बल प्राप्त करती थी।

आज वे पुराने मानदण्ड हिल गये हैं और नये अभी स्थापित नहीं हुए हैं। सामन्तीय जीवन में तर्क की जगह श्रद्धा काम किया करती थी। पूँजीवाद का प्रारम्भ तर्क को प्रश्रय देकर आया था। अपने ह्रास काल में वह फिर श्रद्धा की ओर लौटाना चाहता है। पहले वह पुरुषार्थ पर अवलम्बित था अब वह भाग्यवाद को स्वीकार करता है।

---

२. द आरेगन ट्रेल—फ्रान्सिस पार्कमन—पृ० ११४।

३. मैसर मार्कों पोलों डोन बायर्न—पृ० ५०–५१।

रूसी क्रांन्ति के पूर्व ग्रामों में सामंतीय ह्रास प्राप्त व्यवस्था ने पूँजीवाद के विकास को रोका था। 'सर्फ (भूमिबद्ध किसान) प्रथा औद्योगिक सर्वहारा के उत्थान में बाधक थी और गाँवो में वास्तविक सर्वहारा वर्ग के विकास को रोकती थी। ओब्रेकि देने वाले किसानों को उनका स्वामी जब मर्जी आये तब गाँवों में लौटने की आज्ञा दे सकता था। मजदूर लौटता था, उसकी सारी कमाई जमीन के मालिक के हाथों चली जाती थी और परिणाम स्वरूप वह अपने काम में दिलचस्पी नहीं लेता था और उसे बुरी तरह से करता था। ऐसे किसानों का काम जाहिरा तौर पर उत्पादन के निचले स्तर को प्रगट करता था।+

और तब समाज में यह धारणा उच्चवर्गों में फैल गई थी कि संसार में से ईमानदारी खतम हो गई है। आज भारत में भी कुछ अंश तक यह प्रवृत्ति पाई जाती है। स्वयं लेखक ही परिश्रम से बचना चाहते हैं और यश प्राप्त करने के लिए दल बनाते हैं, पत्रों पर हावी होना चाहते हैं, ऊँट और गधों की मित्रता का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, तथा चटकीली ध्वंसकारिणी आलोचना लिखते हैं, जिससे शीघ्र ही सनसनी सी मच जाये। सनसनीवाद पूंजीवाद की उस खोखली व्यवस्था में जन्म लेता है, जब उसके पास सारी संस्कृति का कोष चुक जाता है। 'को वादिस' नामक सुन्दर उपन्यास का अमरीकन संक्षिप्त रूप देखकर एक बार मैं आश्चर्य में डूब गया था। वह संक्षिप्त रूप मूल का कोई परिचय ही नहीं देता था। उनके पास जैसे पढ़ने का अवकाश ही बहुत कम रह गया है !! और इसका मूल क्या है ? समाज में सामग्री की व्यवस्था ही इसकी जड़ में है।

'राजनैतिक अर्थशास्त्र का प्रारम्भ सामग्री के साथ होता है, तब से प्रारम्भ होता है जब सामग्री का दूसरी वस्तु से आदान प्रदान प्रारम्भ होता है, चाहे वह व्यक्तियों द्वारा हो या आदिम बिरादरियों द्वारा हो। जो वस्तु बदले में दी जाती है वह वस्तु है।'×

+ ए हिस्ट्री आफ द यू० एस० एस० आर० भाग २, १६४८, पृ० १४२

× कार्ल मार्क्स ब्रिटिश आफ पोलिटिकल इकोनमी—फ्रेडरिक एन्गिल्स सेलेक्टेड वर्क्स—मॉस्को १६५० भाग १ पृ० ३३६

यह छोटी सी बात ही मनुष्य को मनुष्य से नये नये सम्बन्ध स्थापित करने को विवश होती है। मनुष्य ने जब समूह बनाया, तब स्वरक्षा उसका केन्द्रीय ध्येय था। आज तक वह स्वरक्षा की व्यवस्था पूर्ण नहीं हो सकी है। उसीका सारा संघर्ष चल रहा है। धन केवल धन नहीं है, उसकी सार्थकता तभी है जब वह मनुष्य से संबंध प्राप्त करता है।' अर्थशास्त्र वस्तुओं के विषम से संबंध नहीं रखता है, और अन्ततोगत्वा, वर्गों के पारस्परिक संबंध से सम्बन्ध रखता है।'++

जब से समाज विषम हुआ तब से ही मनुष्य इस विषमता को समाप्त करने का मार्ग खोज रहा था। यहाँ कुत्सित समाजशास्त्री विचार श्रेणी को याँत्रिक रूप से वर्गों में बाँटकर देखना चाहेंगे। नहीं, मनुष्य तो मनुष्य होता है। वह वर्ग की बात तब ही प्रतिध्वनित करता है, जब उसका दूसरे मनुष्य से उत्पादन के साधन के माध्यम से संबंध होता है। क्या नगर का पूँजीपति ग्रामीण शोषित किसान से सहानुभूति नहीं रखता, जिसे कि सामंत सताता है? परंतु जब उससे छूटकर ग्रामीण पूँजीपति के हाथ में आता है, तब वह भी भेड़ की ऊन नहीं छोड़ता। दया, सहानुभूति सबमें होती है, परन्तु व्यवस्था मनुष्य को मनुष्य से दूर करती हैं, अलगाव पैदा करती है।

अर्थ का समाज में कितना स्थान है यह इसी से प्रगट है कि दर्शन में 'माया' शब्द इसी के प्रयोग के लिये बना है। परन्तु इस सत्य को मार्क्स से पहले उद्घाटित किसी ने नहीं किया था। उसके स्पष्ट होते ही सब कुछ पहले की तुलना में सहज हो गया जैसे कि जब पाइटी ने कहा था कि हमें अगला हफ्ता ही ठीक रहेगा, लेकिन तब चाँद ढलने लगेगा। किज़ी ने अपनी ग्रामीण भाषा में उत्तर दिया थाः 'ढलते चाँद पर क्या हत्या रोपती हो। माँस तो कढ़ाही में अपने आप सिकुड़ जाता है।X

सचमुच माँस सिकुड़ने लगा।

और नया विचार अब कलात्मक रूप धारण कर रहा है। वह सुन्दर से

++ वही पृ० ३३६

X साउथ मून अण्डन—मारजोरी किनान रॉलिंग्स पृ० १८३

सुन्दरतर बनना चाहता है, क्योंकि मनुष्य के अब तक के चिंतन का वह सबसे सुन्दर स्वरूप है, जिसमें सौन्दर्य अपने चिंतन और व्यवहार दोनों को लेकर चलता है। दोनों में पारलौकिक और लौकिक का भेद नहीं करता।

'सौन्दर्य एक गुण है जो सहनशीलता का द्योतक है।XX

यह सहनशीलता है अन्याय के उस प्रतिकार करने की मर्यादा की जो कि मनुष्य को मनुष्यत्व प्राप्त करने से रोकती है।

'सौन्दर्य्य एक साधारण स्थिति है, यह प्रकृति का वह अनवरत प्रयत्न प्रगट करता है, जिसके द्वारा वह उसे प्राप्त करने की चेष्टा करती है।'*

सौन्दर्य्य काव्य का प्राण है। इस प्रकार काव्य एक सहज स्थिति को लाने की चेष्टा करता है। उस सहज में समरस है। वह कवि अपनी अनुभूति के माध्यम से कर पाता है। उस सामरस्य को समाज की विषमता बार बार खंडित करने का प्रयत्न किया करती है।

प्रकृति का नियम है प्रत्यावर्त्तन। जब प्रकृति किसी महापुरुष को उठा लेती है, तब लोग क्षितिज तक उसके उत्तराधिकारी के लिए दृष्टि डालते हैं। पर कोई नहीं आता और आयेगा भी नहीं। उसका वर्ग तो समाप्त हो गया। अर्थात् उसका वह रूप तो बीत गया। किसी अन्य तथा बिल्कुल ही भिन्न क्षेत्र में कोई दूसरा आदमी प्रगट होगा, न जेफरसन, न फ्रैंकलिन, लेकिन अब के एक महान विक्रेता उसके बाद एक सड़क का ठेकेदार, फिर मछलियों की जानकारी में पारंगत विद्यार्थी आयेगा, फिर इसी प्रकार······।'**

काव्य के क्षेत्र में प्रकृति का यह प्रत्यावर्त्तन अबाध रूप से चलता है। एक सीमा में कोई सत्य को आबद्ध करके नहीं रख सकता। सत्य सापेक्ष होने के कारण रूप बदलता ही रहता है। एक सत्य जो मूल है वह मानवीयता है, क्योंकि मनुष्य के लिये वही सबसे बड़ा सत्य है। काव्य ही उस सत्य को

XX एमरसन—एडुअर्ड सी—लिंडमैन द्वारा संपादित पृ० १०६

* वही पृ० ११६

** वही

अपने द्वारा प्रकट करता है, क्योंकि उसका मनुष्य के अन्तरतम से संबंध है।

अन्यथावृत्ति में टेनीसन के ये शब्द उधार लिये जा सकते हैं—

—और उनसे उठी
एक चीत्कार जो कि काँपती हुई
टिमटिमाते तारों तक झंकार भर गयी,
जैसे वह एक समवेत ध्वनि थी, यातना और दुख की
व्यथा के समान,
जैसे कोई वायु थी जो सारी रात मँडराती बंजर पर पुकारती है,
जहाँ सुनसान छाया रहता है, जहाँ कोई नहीं
जाता, न कभी गया था,
तब से, जब से कि संसार बना था।ऽ

यह पंक्तियाँ जिस अचिंत्य भूमि में वेदना की घहराती सत्ता की ओर द्योतन करती हैं, वह भूमि काव्य में ही अपना रस परिपाक प्राप्त करती है। काव्य अपने कल्पना लोक को सदैव जीवित संसार पर आधारित करता है।

कोई भी व्यवस्था ऐसी नहीं होती, जो परिवर्त्तन नहीं करती हो। एक समय दासता को भी शाश्वत समझा जाता था। उस समाज की यही सीमा थी।

कोई भी विचारक, स्वप्नद्रष्टा इतना काल्पनिक या साहसिक नहीं था कि वह गुलामों से हीन जीवन की कल्पना भी करता। ऊँचे से ऊँचे विचारक, आदर्शवादी, और नैतिकतावादी यह नहीं मानते थे या कहें इस भाव से भी परिचित नहीं थे कि दासता एक अभिशाप थी। मिस्र और मेसोपोटामिया के रिकार्डों की ही भाँति औल्डटैस्टेमेन्ट में भी, दासता को भी बिना ननुनच के ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया है। इसराईल के पैगम्बरों ने भी इसके विरुद्ध कुछ नहीं कहा, न सेंट पॉल ने ही। यह तो आश्चर्य्य नहीं हैं कि ग्रीकों ने सैकड़ों वर्षों तक दासता को ज्यों का त्यों ही स्वीकार कर लिया कि यह तो है ही, वरन् आश्चर्य्यजनक यह है कि अन्ततोगत्वा उन्होंने इसके विषय में सोचना प्रारम्भ किया और वे इस पर तर्क करने लगे।'*

ऽ द पासिंग ऑफ आर्थर—टेनीसन पंक्ति—३६७—३७१

* द ग्रीक वे—एडिथ हैमिल्टन पृ० ८६

तर्क क्यों करने लगे ?

क्योंकि उत्पादन के साधन बदलने लगे और उनसे समाज के नियमों का सन्तुलन नया रूप ढूंढ़ने को बाध्य हो गया था। हम इस विषय पर इसीलिये इतना बल देते हैं क्योंकि जब तक यह तथ्य स्पष्ट नहीं होगा, हम अपनी पृष्टभूमि के विकासगत रूप को नहीं समझ सकेंगे। भरत के उदय के साथ, जो भारत में ग्रीकों से बहुत पहले ही भारत में हुआ था, उसे समझना अत्यन्त आवश्यक है। परवर्त्ती काल में यूनान के विकास में—'आरस्तू के कुछ वर्ष बाद ही स्टोइक मत के लोगों ने दासता की निन्दा की कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति इससे बड़ा कोई अपराध हो ही नहीं सकता।'+

भारत का इतिहास अपनी गुत्थी को सुलझा सकता है। हमारा इतिहास इतना प्राचीन है कि हमें उसको देखकर कभी-कभी आश्चर्य्य होता है। इस प्राचीनता के क्षेत्र में व्यवस्था के बहुत धीरे-धीरे बदलने के कारण ही यहाँ 'व्यक्ति' के चारित्र्य को इतना अधिक महत्व दिया गया है। वर्ग से ऊपर जो व्यक्ति को स्वीकार किया गया है उसका भी सामाजिक कारण ही है।

होमस जैफर्सन ने अन्त में कहा था : मेरे पड़ोसियों ! मुझे बताओ। संसार के सामने मैं पूछता हूँ—"मैंने किसका बैल लिया है' मैंने किसे धोखा दिया है ? मैंने किसे दबाया है, या मैंने अपनी आँखों पर जाली डाल देने वाली रिश्वत किससे ली है ?" मैं तुम्हारे निर्णय पर निर्भर करता हूँ।'×

जौफ़र्सन जिस समाज का व्यक्ति था, वह समाज इण्डियनों पर अत्याचार करता था, हब्शियों को दबाता था। परन्तु जैफर्सन के समाज का एक और गुण भी था जो प्रगति का हामी था। 'प्रजातान्त्रिक कौमें परिवर्त्तन को इसलिये चाहती हैं कि परिवर्त्तन हो; और यह उनकी राजनीति के अतिरिक्त उनकी भाषा में भी दिखाई देता है।' ऽ

+ द ग्रीक वे—एडिथ हैमिल्टन पृ० ८६

× जैफ़रसन—सौल के पैडोवर पृ० १५८

ऽ अमेरिका इन पर्सपैक्टिव—हेनरीस्टील कोमेगर द्वारा संपादित अलेक्सी द तोक्येविली के लेख से। पृ० ४३

भाषा को तोक्येविली स्वतन्त्रता की भावना के साथ बाँधते समय हमारी बात को पुष्ट करता है, जिसे हमने प्रारम्भ से ही प्रगट किया था। काव्य का कितना बड़ा काम है यह अब अधिक स्पष्ट होता है।

समाज में जो असन्तोष पैदा होता है उसकी अभिव्यक्ति, जाने या अनजाने कहाँ होती है? जब नारी पर अत्याचार हुआ तब भवभूति ने उत्तररामचरित लिखा। जब प्रजा का विदेशी शासक द्वारा उत्पीड़न हुआ तब 'मानस' का रामराज्य सामने आया। जब योगियों के चमत्कार बढ़े तब सूरदास की भक्ति माधुरी प्रवाहित हुई। रूसो ने ही स्वतन्त्रता की हुंकार लगाई। और किस युग में साहित्य ने यह नहीं कहा कि :—

'जब तक वे जागरूक नहीं होंगे वे कभी विद्रोह नहीं करेंगे, और जब तक वे विद्रोह कर नहीं बैठेंगे तब तक वे जागरूक नहीं हो सकते।'१

प्रगतिशील चिंतन मनुष्य की इस मूल स्वतन्त्रता को चाहता है कि व्यक्ति स्वतन्त्र हो। व्यक्ति की वास्तविक स्वतन्त्रता उसके समाज की स्वतन्त्रता है, और स्वतन्त्र समाज में स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास की क्षमता प्राप्त करना है। कोई भी राजनैतिक पार्टी, ऐसी तो स्वीकार नहीं की जा सकती, जो कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता का गला ही घोंट दे और जब उसका विरोध किया जाये तो वह स्वतन्त्रता की ही दुहाई देकर मुँह बन्द कर देने की चेष्टा किया करे। कितने भी उच्च विचार हों, किन्तु उन्हें यदि तर्क के परे रख दिया जायेगा तो वे निश्चय ही पथ में गतिरोध बन जायेंगे।

'स्वतन्त्रता का अर्थ है दो और दो को चार कहने की स्वतन्त्रता। यदि इतना स्वीकार कर लिया जाता है, तो बाकी सब अपने आप अनुसरण करता है।'२

संसार के साहित्य का इतिहास हमें बताता है कि पुराना संघर्ष अपनी उलझन को सूक्ष्म और स्थूल के पर्य्यायों में बाँटता था। वह सूक्ष्म को यदि अव्यक्त रखता था तो जहाँ उसके पीछे रहस्यात्मकता थी, तो दूसरी ओर उसमें

१. १९८४. पृ० ५६. जार्ज ओलवेल।
२. वही पृ० ६४।

समाज की विषमता का न्याय भी प्राप्त हो जाता था। एक लेखक ने इस पर प्रकाश डाला है कि : ग्रीक कला में साँस और आत्मा के अनवरत अन्तहीन संघर्ष का अन्त हो गया। ग्रीक कलाकार इसे जान नहीं पाये थे। वे आध्यात्मिक परार्थवादी या भौतिकवादी थे ; वे शरीर के महत्त्व को कभी अस्वीकार नहीं करते थे और उसमें सदैव आध्यात्मिक संकेत का महत्त्व देखते थे। रहस्य वाद ग्रीकों के लिये अपरिचित था, क्योंकि वे दार्शनिक थे, चिंतन करते थे। विचार और रहस्य की अनुभूति साथ साथ ठीक से नहीं चलते और ग्रीककला में प्रतीकवाद नहीं के बराबर है। एथेना ज्ञान का प्रतीक नहीं थी, स्वयं ज्ञान थी और उसकी मूर्ति एक सुन्दर गम्भीर नारी की थी ; गम्भीरता विद्वता की प्रतीक थी और इसके अतिरिक्त उससे कोई अन्य भाव नहीं लिया जाता था।[३]

भारतीय चिन्तन ने अपने को बद्ध नहीं रखा। उसने निम्नलिखित रूप धारण किये—

१—व्यक्ति स्वतन्त्र है अपना विचार प्रतिपादित करने के लिये,

२—किन्तु उसका मूल्याङ्कन समाजगत कल्याण के आधार पर ही किया जा सकता है।

३—पूर्णत्व की कल्पना करते हुए भी

४—कभी यह नहीं माना गया कि पूर्णत्व का पथ एक ही है।

यह उनके युग की सीमा थी कि वे किसी ऐसे तथ्य को खोज नहीं पाये थे, जो कि सर्वमान्य रूप से ऐतिहासिक विवेचन कर सकने की सामर्थ्य रखता था किन्तु क्या हम इसी से कह सकते हैं कि मनुष्य की इस यात्रा में उन्होंने ऐसे मील के पत्थर नहीं लगाये हैं जो कि आज भी हमारी यात्रा में सम्बल पहुंचाते हैं।

हम उन्हीं से चिन्तन की प्रेरणा पाते हैं। प्राचीनों ने यह तथ्य, यह विरासत हमारे लिये छोड़ी है कि—

(१) मनुष्य ही मनुष्य का सबसे बड़ा सत्य है।

(२) मनुष्य मनुष्य की स्वरक्षा और सुरक्षा के लिये ही रहता है।

---

३. दी ग्रक वे. एडिथ हैमिल्टन, पृ० ३५।

(३) मनुष्य का चरित्र ऊँचा उठाओ।

(४) विचार की सङ्कीर्णता में मत पड़ो, उसको मानव कल्याण से सापेक्ष रखकर देखो।

(५) तुम्हारा 'भाव' ही एक साधन है जो तुम्हारी मनुष्यता को जगाता है

(६) काव्य तुम्हारी सर्वश्रेष्ठ रचना है।

(७) काव्य वही है जो रसात्मक वाक्य है।

(८) रसात्मक वाक्य वही है जो सबको समान रूप से आनन्द देने वाला है।

(९) काव्य मनुष्य को उच्चता की ओर खींचता है, उसे उदात्ततर बनाता है।

(१०) परिवर्त्तन से मत डरो। वह तुम्हें सदैव प्राणशक्ति देता है।

यह है वह आदर्श जो हमें प्राप्त हुए हैं और जिनके द्वारा हम अपने को महानतम बना सकते हैं।

प्रगतिशील साहित्य में कुत्सित समाजशास्त्री रूढ़िवाद के नये प्रचारक हैं। हमें यदि विदेशों से कुछ लेना है तो वह जो कि काव्य और कला के श्रेष्ठ मूल्य रखता है, जहाँ प्रचारात्मकता नहीं, हृदय बोलने लगता है, जैसे, युद्धकाल में लाल सेना के एक सैनिक की कब्र पर मिखाइल इसाकोवस्की कविता लिखता है—

ओ अपरिचित ! चाहे तुम्हारा लक्ष्य कहीं भी जाने का क्यों न हो,
यहाँ एक क्षण रुको
और प्रेम से, हृदय की समस्त ऊष्मा से
इस सैनिक की कब्र को श्रद्धा से सिर झुकाओ !
चाहे तुम्हारा धंधा कुछ भी क्यों न हो—
मछुए हो या खान के काम करने वाले;
विद्वान हो या चरवाहे—
याद रखो : इस धरती में तुम्हारा सबसे
प्यारा दोस्त सो रहा है;
तुम्हारे और मेरे लिये उसने अपने पास जो सचमुच

देने योग्य था
वह बलिदान कर दिया—
युद्ध में उसने अपनी जान की बाज़ी लगादी
ताकि उसकी मातृभूमि जीवित रह सके।

इस कविता में समस्त राष्ट्र की जागरूक चेतना बोलती है, और इस कविता में कहीं भी निचले स्तर का प्रचार नहीं।

सत् साहित्य भी प्रचार अवश्य है; परन्तु वह मनुष्यता का प्रचार है। वह जीवन की शक्ति का प्रचार है। वह बड़ी गंभीरता से; वैज्ञानिक दृष्टि से; पहले सापेक्ष सम्बन्धों को देखता है और समाज की विषमताओं को देखता है; तब वह मनुष्य के मनुष्यों से जो जाग्रत सम्बन्ध हैं उन्हें अत्यन्त सुन्दर ढङ्ग से प्रस्तुत करता है, ऐसे कि एक की बात सबकी बात बन जाती हैं, और काव्य के रूप में वह भाव वाणी के सबसे सुन्दर रूप—अर्थात् संगीतात्मकता को ग्रहण करती है और फिर हृदयों को आनन्द में सराबोर कर देती है। वह नीरस राजनैतिक कार्य्यक्रमों का उत्थान ही होता है। वह तो जीवन का सांगोपांग चित्र उपस्थित करता है और वह मूलतः मानवता की प्रतिष्ठा करता है। साहित्य ही नये दृष्टिकोण को स्नेह में रँगकर सामने रखता है कि उनसे स्फुरणा प्राप्त होती है, जैसे कि युद्ध में एक रूसी दुल्हन अपने सैनिक पति को पत्र लिखती है—

अभिवादन मेरे प्रिय! तुम लिखते हो कि कल
उषा के उदय के साथ तुम्हें संग्राम भूमि में जाना है,
सच युद्ध के काले बादलों और भीषण तूफानों को भेदकर
मैं तुम्हें अपनी आँखों में साकार देख रही हूं।
सूनी खिड़की के पास सुस्त और कार्य्यहीन सी मैं
पथ देखती तुम्हारी प्रतीक्षा में खड़ी नहीं रहूँगी,
यह तो वे दिन हैं जब स्त्रियों में कठोर सहनशीलता दृढ़तर बन गई है
क्योंकि आज प्रेम और धैर्य मिलकर एक हो गये हैं।
ये नहीं हैं वे दिन कि लड़कियाँ अपने मित्र लड़कों के साथ
सेब के वृक्षों में झूलते नये फूलों के नीचे समय बितादें—

ये वे दिन हैं कि वे युद्ध के काले बादलों और तूफानी ज्वालाओंमें
अपने पुरुषों के साथ कंधे से कंधे भिड़ाकर चलें।

—लेव चेरनोमोरत्सेव

अन्त में हम कह सकते हैं कि—

१] काव्य जीवन है, जीवन की नकल नहीं। जीवन प्रेम और प्रगति है। सौहार्द्र है।

२] कला उस जीवन का बाह्य रूप है, जो जीवन से निचले स्तर की वस्तु है, वह अपने आपके लिए नहीं है, जीवन के लिये है।

३] शास्त्र और भी निचले स्तर की वस्तु है, जो कि उपर्युक्त दोनों की व्याख्या ही कहला सकता है। वह इन दोनों का स्थान नहीं ले सकता।

सारांश यह है कि—

१] काव्य मनुष्य के भावों से जन्म लेता है। उस समय हृदय उदात्त हो जाता है।

२] कला काव्य के भावोद्रेक के बाद अपने आप अनुसरण करती है।

३] शास्त्र बाद की व्याख्या मात्र है, जिसे पुराने अनुभवों का संचय कह सकते हैं।